आत्मज्ञान प्रवेशिका

लेखक : प.पू. योगनिष्ठ आचार्य श्री विजय केशरसूरीश्वरजी म.सा.

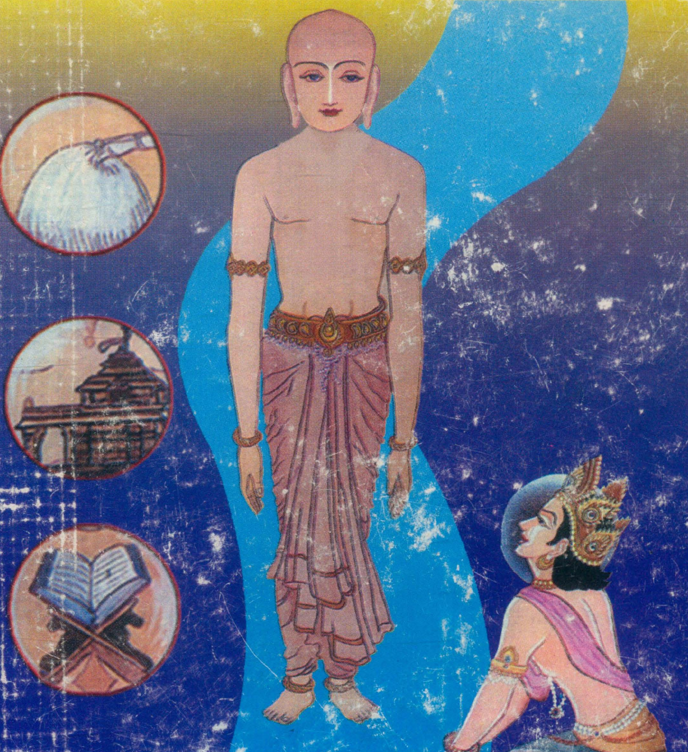

पुनः प्रकाशन निश्रा प. पू. आचार्य
श्री विजय हेमप्रभ सूरीश्वरजी मा. सा.

श्री अजाहरा पार्श्वनाथाय नमः
मणि-बुद्धि-मुक्ति-कमल-केशर-चंद्र प्रभवचंद्रसूरीश्वरजी सद्गुरुभ्यो: नमः

श्री केशर-चंद्र-प्रभव-गिरिविहार ग्रंथमाला चन्द्रपुष्प ५२

आत्मज्ञान प्रवेशिका

: लेखक :
प. पू. योगनिष्ठ आचार्य
श्रीमद् विजय केशर सूरीश्वरजी महाराज

: प्रकाशक :
(श्री मुक्तिचंद्र श्रमण आराधना ट्रस्ट)
गिरिविहार, तलेटी रोड़, पालीताणा-३६४ २७०
फोन : (०२८४८) २२५८

: प्रेरक :

शांतमूर्ति प. पू. आ. श्री विजयप्रभवचंद्रसूरीश्वरजी म.सा.

ना शिष्यरत्न आ. श्रीमद् विजय हेमप्रभसूरीश्ववरजी म.सा.

: विमोचन दिन :

सरल स्वभावी प.पू. आचार्य देव श्रीमद् विजय प्रभवचंद्रसूरीश्वरजी

म.सा. की २४ मी स्वर्गारोहण तिथि के उपलक्ष में :

वीर सं. २५२७ वि. सं. २०५७ द्वितीय आसो सुदी ८,

बुध ता. २४-१०-२००१

: प्रत :

३००० नकल

: मूल्य :

रु. २५-००

: मुद्रक :

गुजरात बुक स्टोर,

खोखरा, अमदावाद-९

फोन : (०७९) २१३१९३९

अनुवादकीय निवेदन

यह छोटीसी पुस्तक "आत्मज्ञान प्रवेशिका" पाठकों के कर-कमलों में समर्पण करते हुए हमें प्रसन्नता होती है। इसका विषय नाम ही से प्रगट है। विषय को प्रतिपादन करने और समझाने का ढंग इतना सुन्दर है कि प्रत्येक धर्म का मनुष्य इससे लाभ उठा सकता है। इसका प्रत्येक पाठ मननपूर्वक पढ़ने योग्य है। इससे हृदय में पवित्रता के साथ-साथ आत्मबल का संचार होता है जिससे आत्मशुद्धि के भाव जागृत होते हैं।

सर्व प्रथम यह पुस्तक मुझे सन् ई. १९३०-३१ में ओसवाल जैन हाई स्कूल अजमेर के सातवीं कक्षा के विद्यार्थियों को पढ़ाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उन दिनों मुझे उपर्युक्त स्कूल में चौथी कक्षा से आरंभ कर दसवीं कक्षा के जैन, तथा अन्य सम्प्रदाय के विद्यार्थियों को धर्म का अभ्यास कराना पड़ता था। उस समय जितनी भी पुस्तक धर्म के अभ्यासक्रम में रखी हुई थी उन सबमें से यह पुस्तक विद्यार्थियों को धर्म के प्रति प्रीति रुचि तथा श्रद्धा उत्पन्न करने में अति उपयोगी सिद्ध हुई।

उस समय मुझे कई इष्ट मित्रों ने इसे हिन्दी भाषा में अनुवाद करने को कहा। यद्यपि हिन्दी भाषा का एक संस्करण बम्बई से एक अजैन महानुभाव द्वारा अनुवादित होकर प्रकाशित हुआ था, तो भी उसे फिर से अनुवाद करने की मुझे प्रेरणा की गई। इधर दूसरे वर्ष इस कक्षा के विद्यार्थियों के लिए बहुत खोज करने पर भी यह पुस्तक खप चुकने के कारण प्राप्त न हो सकी। इसलिये विविश होकर हमें इसके बदले में एक अन्य पुस्तक रखनी पड़ी, तथा मूल गुजराती पुस्तक के अगले संस्करणों में कई सुधार भी किये गये। (जैसा कि लेखक महोदय ने तीसरी आवृत्ति की प्रस्तावना में स्वयं कहा है)। हाईस्कूल छोड़ देने के बाद भी इधर समय-समय पर मुझे कई इष्ट-मित्रों तथा विद्यार्थियों ने इसे अनुवाद करने का आग्रह जारी ही रखा।

इस वर्ष आजिमगंज में जब कि बाबू विमलकुमार सिंघ दुघोड़िया सुपुत्र बाबू जयकुमार सिंघजी दुघोड़ियाने मेरे पास नवतत्व के साथ-साथ इस पुस्तक का भी अभ्यास किया तब तथा विजयगच्छीय यति श्री मोतीचन्द्रजी महाराज ने इसे हिन्दी भाषा में अनुवाद करने की फिर से प्रेरणा की। इधर इस वर्ष तीन अन्य पुस्तकें तैयार करते रहने के कारण समय का अभाव तो था ही, उधर इस कार्य के लिये फिर से प्रेरणा पाकर तथा इसका अनुवाद करना आवश्यकीय जानकार जैसे-तैसे कार्य प्रारंभ कर ही दिया। जो कि संपूर्ण होकर आज आप महानुभावों के करकमलों में उपस्थित है। इस पुस्तक को अनुवाद करने के लिये समय समय पर जिन-जिन महानुभावों ने प्रेरणा की है उनकी इस कृपा के लिये मैं आभारी हूँ।

प्रसन्नता की बात है कि गुजराती जनता ने इस पुस्तक का आशातीत आदर किया है। इस मूल गुजराती पुस्तक की बारह हजार प्रतियां मात्र दो वर्ष के अन्दर-अन्दर ही खप चुकी थी अबतक तो न जाने कितनी खप चुकी होंगी। आशा है कि आत्मकल्याणार्थी हिन्दी-भाषा-भाषी जनता भी इसका खूब प्रचार कर स्व-पर का कल्याण करने में अवश्य सहायक होगी।

विक्रम संवत् १९९६ — **नवेदक**

मि. फाल्गुन सुदी ५ — **हीरालाल दूगड़ (आजिमगंज)**

॥ ॐ अर्हते नमः ॥

प्रस्तावना

ज्ञानी पुरुषों का यही अभिप्राय है कि जिस वस्तु की प्राप्ति करना हो उसका पहले ज्ञान प्राप्त करना चाहिए और फिर उसको प्राप्त करनेकी चेष्ठा करनी चाहिये। इसको ज्ञान और क्रिया द्वारा मोक्ष प्राप्त करना कहते हैं। न तो अकेले ज्ञान ही से कुछ कार्य हो सकता है और न अकेली क्रिया ही से कुछ इच्छित वस्तु की प्राप्ति हो सकती है। दूल्हे बिना बरात किस काम की ? दूल्हा और बरात दोनों की ही आवश्यकता है। पाठशालाओं और बोर्डिंगों में विद्यार्थियों को केवल प्रतिक्रमण की क्रिया के पाठ कंठस्थ करा दिये जाते है, परन्तु उन्हें यह नहीं समझाया जाता कि प्रतिक्रमण किस लिए करना चाहिये, कौन बंधा हुआ है कि जिसके छुड़ाने का प्रयत्न किया जाय। जब तक इस बात का ज्ञान न हो तब तक उस क्रिया के पाठ उपयोगी नहीं हो सकते। इसलिये प्रथम आत्मा और बन्ध मोक्ष का ज्ञान देने की परम आवश्यकता है। जिस मनुष्य को बाल्यावस्था में ही सत्य वस्तु का ज्ञान प्राप्त हो जाय तथा दृढ संस्कार पड़ जाये तो आगे चलकर यह अवश्य ही क्रिया मार्ग में प्रवृत्ति करनेवाला होगा।

वर्तमान में अनेक शिक्षित लोग क्रिया नहीं करते। यदि करने भी जाते हैं तो वह क्रिया उन्हें शुष्क लगती है, इसलिये उसमें उन्हें आनन्द नहीं आता। इसका कारण यह है कि वे आत्मज्ञान से शून्य है। वे नहीं जानते कि आत्मा क्या वस्तु है, वह कैसे बंध जाता है, कैसी क्रिया से कर्म आते हैं, कैसी क्रिया करने से आते हुए कर्म रुक जाते हैं। किस क्रिया द्वारा पूर्वकृत कर्म नाश होते हैं और आत्म स्वरूप कैसे प्रकट होता है ? उनको इनसे सम्बन्ध रखनेवाला ज्ञान नहीं मिलता है इसलिए लक्ष्यहीन व्यर्थ चलना उन्हें अयोग्य मालूम पड़ता है। आधुनिक हरेक शिक्षालय में इस बात की कमी है। लाखों रुपया खर्च करनेपर तथा वर्षों तक पाठशालाएं चलाने पर भी संतोषकारक परिणाम नहीं आता है ! लड़के पाठशाला छोड़कर व्यापार में पड़ते हैं और लड़कियों का विवाह होकर वे ससुराल में जाती हैं। सभी रटे प्रतिक्रमणादि के पाठ भूल जाते हैं। यदि किसी को याद भी रह जाते है तो उनका उपयोग नहीं होता। यदि उन्हें आत्म स्वरूप का ज्ञान करा दिया जाय और उनके हृदय में इस ज्ञान के दृढ संस्कार जाड दिये जाये तो कठिन से कठिन प्रसंग में भी वे अपने कर्तव्य को न भूलें।

इस चातुर्मास में पादरा की पाठशाला का वार्षिक उत्सव हुआ था। उस समय पर विचार उपस्थित हुआ कि विद्यार्थियों को आत्मा सम्बन्धी ज्ञान कैसे प्राप्त कराया जाय ? पाठशाला के नेताओं को

तत्सम्बन्धी एक पुस्तक की आवश्यकता प्रतीत हुई। उन्होंने हमसे ऐसी पुस्तक लिख देने की विनती की। जिसके परिणाम स्वरूप यह "आत्मज्ञान प्रवेशिका" पुस्तक तैयार की गई है।

इस पुस्तक में क्या-क्या विषय आने चाहिए इसके लिए मुझे कुछ सूचनाएं श्रीयुत् वकील मोहनलाल हेमचन्द ने दी थी।

यह पुस्तक बाईस पाठों में समाप्त हुई है। प्रत्येक पाठ के अन्त में उसके साररूप प्रश्न भी दे दिये गये हैं। अध्यापक को चाहिए की वह प्रत्येक पाठ को स्वयं समझकर विद्यार्थियों को विवेचन सहित विस्तार से समझावे तथा साररूप प्रश्न उन्हें कण्ठस्थ करावे। उस पाठ में से विद्यार्थियों को उन प्रश्नों के उत्तर स्वयं ही ढूंढने दे, इससे यह पाठ उनके हृदय में भली-भांति अंकित हो जायेगा। चाहे एक पाठ को याद करने में एक से अधिक दिन क्यों न लग जाये। परन्तु इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि प्रत्येक पाठ विद्यार्थियों को हृदयङ्गम हो जाय। यदि इस प्रकार अभ्यास कराया जायेगा तो मुझे दृढ विश्वास है कि यह एक छोटी सी पुस्तक पढ़नेवाले को अनेक पुस्तकें पढ़नेवालों से विशेष ज्ञान होगा। इस पुस्तक का ज्ञान बीज समान है। शास्त्रों के रहस्य से भरपूर है। अपने लक्ष्यको जागृत करानेवाला है। आत्मा में प्रवेश करानेवाला है। क्योंकि ज्ञान और क्रिया दोनों का उपयोग इसमें किया गया है। इसीलिए इसका नाम "आत्मज्ञान प्रवेशिका" भी सार्थक ही है।

यदि यह पुस्तक पाठशालाओं में और अन्यत्र भी उपयोगी सिद्ध हुई तो इसकी आवश्यकता होने पर पुनसंस्करण भी प्रकाशित करायें जायेंगे। मैंने तो अपने छोटे भाईयों की सेवा की है। यदि उन्हें उपयोगी प्रतीत हो तो वे इस सेवा को स्वीकारें और आनन्द प्राप्त करें। इससे मैं अपने को कृतार्थ समझूंगा। इति लेखक और वाचक को शान्ति हो।

विक्रम संवत् १९७९
कार्तिक सुदी १५

लेखक
पं. केसर विजयजी गणि

द्वितीयावृत्ति

थोड़े समय में ही "आत्मज्ञान प्रवेशिका" का प्रचार अच्छा हुआ है। आत्मज्ञान सम्बन्धी विचार जनता में बढ़ता जा रहा है। अन्य-दर्शनवाले विद्वानों ने भी इसे पसंद कर इसके लिये अच्छी सम्मति दी है। तथा इसके प्रचार और पठन पाठन में भी उन्होंने खासा भाग लिया है। इससे मुझे संतोष है।

इसमें ऐसे मध्यम पाठ हैं कि जिनको पढ़ने से मत-मतांतर बिना आत्मज्ञान का विकास होता है तथा प्रतिपादन किये गये विषयो को सरलता से व्यवहार में लाया जा सकता है। आशा है कि इससे आत्मज्ञान की उन्नति चाहनेवालों को आनंद होगा।

दूसरी आवृत्ति में पांच पाठ नये और भी बढ़ा दिये गए हैं। आत्म-मार्ग में आगे बढ़ने की इच्छा रखनेवालों के लिये ये पाठ खास उपयोगी सिद्ध होंगे।

विक्रम संवत् १९७९
भादों वदि ६

लेखक
पं. केसर विजयजी गणि
वलसाड

तृतीयावृत्ति

यह पुस्तक कितनी उपयोगी सिद्धि हुई है इसके लिए मात्र इतना ही प्रमाण यथेष्ठ है कि दो वर्ष पूरे नहीं हो पाए। इस की बारह हजार प्रतियां छप चुकी हैं। यह पुस्तक कई बोर्डिंगो तथा पाठशालाओं में पढ़ाई जाने लगी है। यह भी इस पुस्तक की उपयोगिता सूचित कर रही है। यह तीसरी आवृत्ति में पांच हजार पुस्तकें छपवाई गई हैं।

तीसरी आवृत्ति में भावनगर वाले शेठ कुंवरजी भाई आनन्दजी ने प्रेमभाव से जो जो सूचनाएँ की थी वह मुझे उचित जान पड़ी और तदनुसार इसमें सुधार कर दिया गया है। यदि यह पुस्तक विशेष उपयोगी जान पड़े तो दूसरे बोर्डिंग और पाठशालाएँ भी इन पाठशालाओं का अनुकरण कर इसे अपने पाठ्यक्रम में रखें। इसके लिये उन-उन पाठशालाओं के व्यवस्थापकों से अनुरोध है।

विक्रम संवत् १९८१
आषाढ़ सुदि १५

लेखक
पं. केसर विजयजी गणि
वलसाड

॥ ॐ अर्हते नमः ॥

अष्टमी आवृत्ति की

प्रस्तावना

परमकृपालु जिन शासन को पाकर भी अनेक जनलोक की फरीयाद हैं कि हमे सुख-समाधि नहीं मिलती तो क्या करे ? धर्म-क्रियाओं का आसेवन करते है तथापि उचित फल नही मिलता ? जवाब में - कारण यह है कि सुख के हेतु - धर्म का आचरण है। परन्तु दुःख के हेतु पाप, अनाचार, अकृत्य आदि का परित्याग नहीं है ! जैन शासन केवल सुकृत के आसेवन में नहीं मानता किन्तु साथ साथ में दुष्कृत के अनासेवन का भी सु-आग्रह रखता है।

प.पू. योगनिष्ठ आ.श्री.वि. केशरसूरि म.सा.ने प्रस्तुत पुस्तक में अनादि कालीन कुवासना, बुद्धि भ्रम, नास्तिकता आदि का उन्मूलन करने 'आत्म-स्वरुप' का सुबोध दीया है। आत्मा की सत्य पहचान, तर्क के माध्यम से सिद्धि, स्वरुप प्राप्ति आदि का विवरण प्रथम, द्वितीय पाठ में है।

तीसरे पाठ में जैन-शासन के अनेकान्तवाद का दर्शन कराया है। आत्मा स्थिर भी है, परिवर्तनशील भी। जैसे स्वर्ण की अवस्थाए मुकुट, कुण्डल आदि के रुप में बदलती हैं, तथापि स्वर्ण द्रव्य तो कायमी (अवस्थित) है। ठीक इस तरह मनुष्य, तिर्यंच आदि अवस्था (पर्याय) नूतन पैदा होते हैं, तद्-गत आत्मा एक हैं।

चौथे से सातवें पाठ तक कर्म-सिद्धान्त को पुष्ट किया है। जैन-धर्म, ईश्वर-कतृत्व मे नहीं मानता, संसार अनादि-निधन स्वभावतः है। अगर ईश्वर दुनिया बनाये तो वह दयालु दुःखी, कषायी, निर्दयी, कृतघ्नी जन को क्यों पैदा करे ? अथवा तो ईश्वर

के हाथ, पैर, कितने ? उसे किसने बनाया ? उसे सर्जन-विसर्जन की इच्छा क्यों हुई ? इत्यादि अनेक सवाल सामने आते हैं । अतः मध्यस्थ दृष्टिकोण से विचार करे तो स्वकृत कर्म ही प्रायः व्यक्ति के सुख-दुःख के हेतु है । जीव-कर्म इन दोनो में कोई 'आद्य' नहीं समतौर से अनादि है । इन कर्मो का आत्मा के साथ आकर्षण, एकमेक पणा कैसे होता है ? कर्म संयोग (आत्मा के साथ) में हेतु कौन से चार तत्व है ? इत्यादि सरल-शैलि में दर्शाया गया है । जैसे स्वर्ण-मिट्टी अनादि काल से मिश्रित है तो भी अमुक प्रक्रिया विधि से स्वर्ण-शुद्धिकरण संभवित है, इसी तरह आत्मा-कर्म अनादि काल से मिश्रित है तो भी तप, त्याग, स्वाध्यायमय चारित्र सेवन से शुद्धि, मुक्ति अवश्य है, आदि समाधान प्रस्तुत पाठों में विदित है ।

आगे बढ़कर बन्धन-मुक्ति विवरण, मनुष्य-तिर्यंच नरकगति का स्वरुप एवं प्राप्ति के कारण की पहचान दी गई हैं । तेरहवाँ पाठ खास-पठनीय-विचारणीय है । देह-निष्ठ आत्मा तथा अन्य दो देह को समझाने हेतु एक कल्पित दृष्टान्त दिखलाया गया है । तदुपरान्त अन्य पाठो में जड-चैतन्य विवेक, परोपकार की गरीमा, तीर्थ का महत्त्व आदि अति सुगम-शैलि से प्रस्तुत किया गया है ।

महत्त्वपूर्ण उन्नीस-वीसवाँ पाठ है जिसमें गृहस्थ की सम्पूर्ण दिनचर्या संक्षिप्त रुप से बताई गई है । "गृहस्थ जीवन जितना नियमित-अनुशासित-सत्त्वयुक्त होता है उतना ही असरकारी सर्वविरतिमय जीवन बनता है । अतः बारहव्रत की समझावट जरूरी है सो समझने के लिए ये दो पाठ अवश्य पढे ।

जाप-ध्यान बहु-जन करते हैं किन्तु विधि, नियम, उद्देश्य को न समझने के कारण उचित फल नही पातें । उदास बन जाते हैं।

अतः उल्लास का उर्ध्वीकरण करने के लिए जाप का महत्त्व, विधि जानने हेतु इक्किसवाँ पाठ समझे । अन्त में धर्म-करणी करते हुए भी फल-प्राप्ति मे बाधक-तत्त्व कौन से है उसकी विस्तृत भूमिका का वर्णन बालवर्ग भी समझ सके इतनी सरलता से किया गया है।

अल्पशरीरी इस ग्रंथ में युक्तिगम्य, आगमगम्य अनेक सिद्धान्तों का मार्मिक बोध 'अल्प अक्षरों में अधिक अर्थ' द्वारा लिखने का प्रयास किया गया है ।

सदाचार-शुद्धि, श्रद्धा-शुद्धि एवं चित्त-शुद्धि द्वारा योगसाधना के महल में प्रवेश किया जाता है । अतः सर्ववाचक वर्ग उपरोक्त तीन शुद्धि हेतु यह पुस्तक अवश्य पढ़े । अन्य योग्य वर्ग को प्रेरणा देकर पढावे, लाभदायी होगा ।

यह पुस्तक अष्टमी आवृत्ति के रुप में वाचकवर्ग को अर्पण की जा रही है । दिल्ली आदि महानगरों में इसका पुनर्मुद्रण अनेक दफा हो चुका है । तदुपरान्त पाठशाला, स्कूलो में भी इस पुस्तक का अध्यापन कराया जाता था । आबाल गोपाल के लिए उपयोगी यह पुस्तक की सप्तमी आवृत्ति की प्रतियाँ अनुपलब्ध होने के कारण यह अष्टमी आवृत्ति प्रकाशित की जा रही है । सुज्ञ वाचक पढ़कर अपना श्रेय और कल्याण को साधे यही शुभेच्छा सह...

लि. प.पू.गुरुदेव आ.वि. हेमप्रभसूरीश्वरजी म. सा. के शिष्य
मुनि उदयप्रभ विजय
(२०५७) ओसा सुदी-८, गिरधरनगर, अमदावाद

आचार्य भगवंत श्रीमद् विजयकेसर सूरीश्वरजी महाराजश्री का संक्षिप्त जीवन परिचय

जैनशासन के श्रमणोद्यान में अनेकों पुष्प खिलते रहे हैं । जिनकी परमसौरभ ने संपूर्ण भारत को महकाया है । ऐसे अनेक पुष्पों में अपनी विशिष्ठ सुगन्ध द्वारा बहार लानेवाले एक पुष्प का नाम है; प.पू. योगनिष्ठ आ. श्रीमद् विजय केसरसूरीश्वरजी महाराजा । ॐ जाप के पूर्ण रसिक, योगसाधना के महान साधक, नवीन पिढी को मार्गदर्शन मिले ऐसे साहित्य के रचयिता तथा अक्षरदेह से मौजूद ऐसे अजर, अमर-सूरिजी जिन शासन के एक प्रभाविक आचार्य थे ।

पूज्यश्री का सांसारिक नाम केशवजी था । संवत १९३३ के पोष सुद पुनम के दिन, तीर्थाधिराज की पावन छत्रछाया, पालीताणा शहर में इनका जन्म हुआ था । पालीताणा तो इनका ननिहाल था जबकि केशवजी का वतन बोटाद के पास रहा हुआ पालीयाद नाम का गाँव था । इनके पिताश्री माधवजी नागजी एवं मातृश्री पानबाई थे । जाति से वीशाश्रीमाली थे एवं धन्धा, व्यापार करते थे । पालीताणा में जन्मे केशवजी ने तीसरे दर्जे तक पढ़ाई भी वहाँ की । संवत १९४० में इनका परिवार वढवाण कैम्प में रहने आया, जहाँ केशवजी ने आगे बढ़ते छठ्ठी कक्षा तक का अभ्यास किया । परन्तु इसी दौरान दिल को दहलाने वाली एक घटना घटी । तीन दिनों की अवधि में ही माता एवं पिता दोनों का देहान्त हुआ । ऐसे हृदयस्पर्शी आघात से केशवजीभाई का मन संसार से उदासीन बना । ऐसे में वड़ोदरा शहर में परम पूज्य आचार्य श्री विजयकमल सूरीश्वरजी महाराज का समागम हुआ और

भाई केशवजी की वैराग्यभावना दृढ बनी । संवत १९५० के मागसर सुदी १० के दिन उन्होंने पूज्य आचार्यश्रीजी के कर कमलों द्वारा दिक्षा ग्रहण की । गुरु महाराज ने इनका नाम श्री केसरविजयजी रखा ।

मुनिश्री केसरविजयजी महाराज दिक्षा अंगीकार करके गुरु चरणों में समर्पित बने । विद्याभ्यास एवं तप-जप में लीन बने। वड़ोदरा तथा सुरत की स्थिरता के दौरान अनेक शास्त्रों का गहन अभ्यास किया । बाद में उनका मन योग की तरफ बढ़ा और जीवन पर्यंत यह रूचि टिकी रही । जीवन के अंतिम श्वास तक योग, ध्यान तथा अष्टांग योग के साधक बने रहे । योगप्राप्ति के लिए अनेक कष्ट सहन करने में उन्हें आनंद आता था । पूज्यश्री ने योग के द्वारा अनेक सिद्धियाँ प्राप्त की थी । पूज्यश्री के जीवन में ऊँ का जाप सतत चलता रहा । ॐ अर्हं नमः जापे के लिए पूज्यश्री सबको प्रेरणा भी करते थे । धर्मशास्त्रों और योगविद्या के विशाल एवं गहनज्ञान की परिणीति स्वरूप पूज्यश्री ने उत्तम ग्रन्थों की विरासत दी हैं । जिसमें योगशास्त्र, ध्यानदीपिका, सम्यगदर्शन, गृहस्थधर्म, नीतियम जीवन, आत्मा का विकासक्रम, महामोह का पराजय, मलयसुंदरी चरित्र, महावीर तत्त्व प्रकाश, आत्मविशुद्धि आदि मुख्य हैं । आनंद और प्रभु महावीर, राजकुमारी सुदर्शना, शान्ति का मार्ग वगैरह भी इन्हीं की कृती है ।

पूज्यश्री को संवत १९६३ में सुरतनगर में गणी पदवी प्रदान की गई । संवत १९६४ में बम्बई में पंन्यास पदवी से विभूषित किये गये । परन्तु इसके बाद पूज्य गुरुदेवश्री विजय कमलसूरिश्वरजी महाराज का कालधर्म होने से इनके उपर समुदाय की संपूर्ण जवाबदारी आ गई । समुदाय की सुव्यवस्था एवम् सुसंचालन हेतु

वढवाण में सम्मेलन बुलाया गया । पूज्यश्री की विद्वत्ता, वक्तृत्व और योगसिद्धि का ज्यादा प्रभाव बढ़ने लगा । अनेक भव्य आत्माएँ इनके करकमलों द्वारा संयम मार्ग के पथिक बने । जैन ही नहीं, पारसी, मुस्लिम, मोची आदि कोम के मनुष्यों पर भी इनका अच्छा प्रभाव पड़ा । पूज्यश्री की चारों तरफ बढ़ती हुई प्रभावना को लक्ष्य में रखकर संवत १९८३ के फागण वदी दूज के दिन भावनगर में बड़े धूमधाम से आचार्य पदवी प्रदान की गई ।

संवत १९८५ में वड़ाली का चातुर्मास पूरा करके पूज्यश्री तारंगाजी पधारे । वहाँ गुफा में ध्यानावस्था में थे । वही पर सर्दी के भयंकर प्रकोप से हृदय पर असर पड़ा एवं पूज्यश्री को अहमदाबाद लाया गया । उजमफुई की धर्मशाला में उन्हें रखा गया । अनेक उपचार करने के बावजूद श्रावण वदी ५ को पूज्यश्री ने अन्नपानी का त्याग किया एवं ॐ मंत्र के सतत जाप के साथ समाधिपूर्वक कालधर्म को पाये । व्याख्यान के वक्त, वार्तालाप के समय, क्रियाकलाप करते जिनकी आँखों से अमीधारा बहती थी, ऐसे नयनों का इस क्षणभंगुर दुनियाँ से सदा के लिए वियोग हो गया । पूज्यश्री के कालधर्म (देहावसान) से समग्र समाज में शोक का वातावरण बन गया । परन्तु उनके अक्षरदेह से अमरता एवं आनंद की अनुभूती की जा सकती हैं । ऐसे इन योगीराज, वास्तल्यमूर्ति आचार्य भगवंत को हृदयपूर्वक कोटीशः वन्दना ।

: संकलन :

पू.आ.वि. हेमप्रभसूरीश्वरजी म. सा. के शिष्य

मुनि उदयप्रभ विजय

મુક્તિ કમળ કેશર વાટીકા

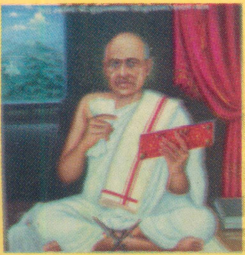

સંઘ રઘુવીર પ. પૂ.
બુદ્ધિ વિજયજી મ. સા. (બુટેરાયજી મ. સા.)

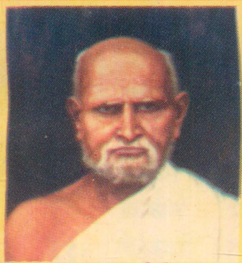

પ. પૂ. આચાર્ય વિજય
શ્રી કમલ સૂરીશશ્વરજી મ. સા.

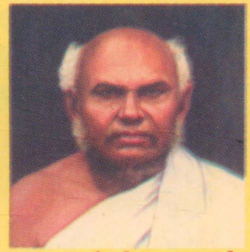

પ. પૂ. યોગનિષ્ઠ આચાર્ય
શ્રી વિજય કેશર સૂરીશ્વરજી મ. સા.

તપાગચ્છાધિરાજ પ. પૂ.
શ્રી મુક્તિવિજયજી (ગણિ.) મૂલચંદજી મ. સા.

પ. પૂ. આચાર્ય
શ્રી વિજય ચન્દ્ર સૂરીશ્વરજી મ. સા.

પ. પૂ. આચાર્ય
શ્રી વિજય પ્રભવચંન્દ્ર સૂરીશ્વરજી મ. સા.

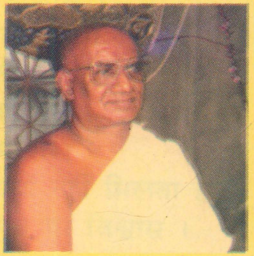

પ. પૂ. આચાર્ય
શ્રી વિજય હેમપ્રભસૂરીશ્વરજી મ. સા.

अनुक्रमणिका

१.	आत्मा है ।	१
२.	देह में आत्मा है ।	४
३.	आत्मा नित्य है या अनित्य ।	६
४.	पहले कर्म है या आत्मा ।	९
५.	आत्मा के साथ कर्म के पुद्गलों का संबंध ।	१२
६.	जो क्रिया द्वारा किया जाय उसे कर्म कहते हैं ।	१५
७.	जो क्रिया द्वारा किया जाय उसे कर्म कहते हैं ।	१९
८.	बन्ध ।	२३
९.	विचार शक्ति और उसका परिवर्तन ।	२८
१०.	बन्धन - मुक्ति ।	३४
११.	देहधारी आत्माएं ।	३७
१२.	मनुष्य तिर्यञ्चादि ।	४१
१३	आत्मदृष्टि ।	४७
१४.	जड़ चैतन्य का विवेक ।	५२
१५.	प्रेम और परोपकार ।	५६
१६.	तीर्थ यात्रा-स्थावर तीर्थ ।	६१
१७.	तीर्थ यात्रा जङ्गम तीर्थ ।	६४
१८.	आदर्श जीवन-त्यागमार्ग ।	६८
१९.	गृहस्थों का कर्तव्य ।	७३
२०.	गृहस्थ धर्म-बारह व्रत ।	७८
२१.	परमात्मा का स्मरण ।	८१
२२.	धर्म का फल क्यों नहीं मिलता हैं ?	९०
२३.	आत्माश्रद्धा-अपने पर विश्वास ।	९८
२४.	ध्यान ।	१०५
२५.	व्यवहार में वृत्ति स्वरूप का अवलोकन ।	११०
२६.	आत्मा का विकास, लक्ष्य तथा जागृति ।	११६
२७.	अन्त समय की क्रिया ।	१२३

ॐ अर्हते नमः

आत्मज्ञान प्रवेशिका

पाठ १ - आत्मा है

यह बात निश्चित है कि आत्मा है। मैं हूं या नहीं ? इस 'शंका को जो जानता है वही आत्मा है। आत्मा अरुपी वस्तु है, इसलिये हम आंखो द्वारा जैसे दूसरे पदार्थों को देख सकते हैं वैसे आत्मा को नहीं देख सकते। आत्मा में किसी भी प्रकार का रुप अथवा आकार नहीं हैं तथापि आत्मा है अवश्य।

आत्मा में गुण है, उन गुणों द्वारा आत्मा 'है' ऐसा हम जान सकते हैं। उपयोग यह आत्मा का मुख्य गुण है। उपयोग दो प्रकार के है - एक ज्ञान उपयोग, दूसरा दर्शन उपयोग। ज्ञान उपयोग द्वारा हम वस्तुओं को जान सकते है तथा दर्शन उपयोग द्वारा पदार्थ को देख सकते हैं। जानना और देखना ये आत्मा के गुण हैं।

आत्मा का अनुभव होता है। आत्मा ही आत्मा को जानता है। संसार का अन्य कोई भी पदार्थ आत्मा को नहीं जान सकता! जो आत्मा इस विश्व को जान सकता है उसको जानने वाला दूसरा कौन हो सकता है ? उसे जो जानता है वह आत्मा ही हैं।

टिप्पणी : १. मन, इन्द्रियां तथा सूक्ष्म यन्त्र आत्मा को जानने में असमर्थ हैं क्योंकि इन्द्रियां सभी भौतिक हैं। उनकी ग्रहण शक्ति बहुत परिमित है। वे भौतिक पदार्थों में से भी स्थूल निकटवर्ती और नियत

आत्मा हो तभी शरीर चल फिर सकता है, मुख बोल सकता है, कान सुन सकते हैं, नाक सूंघ सकती हैं, जीभ स्वाद ले सकती हैं, आंखे देख सकती हैं, देह शीत उष्णादि को जान सकती है, मन विचार कर सकता है और सुख दुःख आदि जान सकता हैं।

आत्मा न हो तो सुख दुःख आदि जाने न जायँ, मन विचार न कर सके, मुख बोल न सके, नाक सूंघ न सके, जीभ स्वाद न ले सके, शरीर हलन चलन न कर सके, कान सुन न सके, आंखे देख न सकें, आत्मा विना का शरीर मुर्दा कहलाता है । सचेतन दशा और लागणीयां आत्मा के अस्तित्व से ही होती हैं ।

विषयों को ही उपर - उपर से जान सकती हैं । सूक्ष्म दर्शक यंत्रादिक साधनों की भी यही दशा है । ये अभी तक भौतिक प्रदेश में ही कार्यकारी सिद्ध हुए हैं । इसलिये इन्द्रियां और सूक्ष्म यंत्रादि अमूर्त अरुपी आत्मा को कैसे जान सकते हैं ? मन भौतिक होने पर भी इन्द्रियों की अपेक्षा अधिक समर्थवान है सही, पर जब वह इन्द्रियों का दास बन जाता है-एक के पीछे एक, इस तरह अनेक विषयों में बन्दर के समान दौड लगाता फिरता है-तब उसमें राजस व तामस वृत्तियां पैदा होती हैं, सात्त्विक भाव प्रकट होने नहीं पाता । इसलिये चंचल मन में भी आत्मा की स्फूरणा नहीं होती । यह देखी हुई बात है कि प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की शक्ति, जिस दर्पण में वर्तमान है वह भी जब मलिन हो जाता है तब उसमें किसी वस्तु का प्रतिबिंब व्यक्त नहीं होता। इसी प्रकार बाहरी विषयों में दौड लगाने वाले अस्थिर मन से आत्मा का ग्रहण नहीं हो सकता ।

इस प्रकार विचार करने से यह प्रमाणित होता है कि मन, इन्द्रियां, सूक्ष्म दर्शक यंत्र आदि सभी साधन भौतिक-मूर्त होने से अरुपी आत्मा को जानने में असमर्थ है ।-(सुखलाल)

जब सारे विकल्प दूर हो जाते हैं और मन स्थिर होता है, तब जो अनुभव होता है, जो स्थिति होती है वही आत्मा का शुद्ध स्वभाव है। वह आत्मा की स्वरुपस्थ दशा है। इस स्थिति में आत्मा जैसे जैसे अधिक समय तक रहता है वैसे-वैसे आत्मा की महान् शक्तियां प्रगट होती जाती है। उसकी योग्यता विशेष बढ़ती जाती है। आत्मा शरीर में है, इस दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो आत्मा देह प्रमाण है। आत्मा, ज्ञान स्वरुप है इस अपेक्षा से विचार करें तो विश्व व्यापक है। शुद्ध स्वरुप की अपेक्षा से आत्मा न लम्बा है, न नाटा है; न हलका है, न भारी है। किसी भी प्रकार के तर्क वितर्क से आत्मा नहीं जाना जा सकता है।

जब इन्द्रियों के विषयों की क्रियायें और मन के विकल्प शांत हो जाते हैं, तब आत्मा, आत्माकार से आत्मोपयोग में परिणमन होकर शुद्धस्वरुप में प्रकट होता है, अनुभव में आता है।

सार प्रश्न

१. क्या आत्मा है ?

२. क्या आत्मा में गुण हैं ?

३. क्या आत्मा देह प्रमाण हैं ?

४. क्या आत्मा का अनुभव होता हैं ?

५. क्या आत्मा विश्वव्यापक हैं ?

पाठ २ - देह में आत्मा है ।

जैसे अरनी की लकडी में अग्नि है, दही में घी है, तिलों में तैल है, पुष्पों में सुगन्ध है, जमीन में पानी है, वैसै ही शरीर में जीव है । जैसे पिंजरे में रहा हुआ पक्षी पिंजरे से जुदा है, वृक्ष से वृक्ष पर बैठा हुआ पक्षी जुदा है, पोशाक से पोशाक पहननेवाला जुदा है, वैसे ही देह से आत्मा जुदा है ।

देहधारी आत्मा में संकोच-विकस का गुण है । इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि आत्मा कितना बडा है या कितना छोटा है । जीव जिस समय जिस देह में हो उस समय जीव उसी देह के प्रमाण का कहलाता है । जैसे-जैसे शरीर बढ़ता जाता है वैसे-वैसे जीव विकास पाता जाता है और शरीर के भागों में व्याप्त होकर रहता है । शरीर दुर्बल होने पर या हाथ पैर कट जाने पर जीव के प्रदेश संकुचित हो जाते हैं ।

जैसे दीपक का प्रकाश खुला हो तो वह पूरे घर में फैल जावेगा परन्तु यदि उस पर एक बर्तन ढ़क दिया जाय तो उसका प्रकाश उतने ही भाग में संकुचित होकर समा जावेगा वैसे ही कर्म के बन्धन में बन्धा हुआ संसारी जीव जिस देह को धारण करता है उसी के प्रमाण में वह रहता है । हाथी के शरीर में रहा हुआ जीव हाथी प्रमाण प्रदेश रोक कर रहेगा और चींटी के शरीर में रहा हुआ जीव उतना ही विभाग रोक कर रह सकेगा तथा सुख दुःख का अनुभव भी उतने ही विभाग में होगा । यदि शरीर के बाहर भी इस जीव की मौजूदगी हो तो उस स्थान में रहे हुए शीत-ऊष्णता,

सुख-दुःख आदि का अनुभव भी इस जीव को होना चाहिये । परन्तु ऐसा नहीं होता । सुखी होने के लिये अथवा मोक्ष प्राप्त करने के लिये प्रयत्न भी इस शरीर में रहकर ही किया जाता है एवं सुख शांति, दुःख या ज्ञान का अनुभव भी इस देह के अन्दर रहे हुए आत्मा को ही होता है । इसलिये आत्मा देह प्रमाण है ।

कर्मों के बन्धन छूट जाने पर, दीपक के प्रकाश की भांति, जीव कितना बडा है इसका अन्दाज नहीं किया जा सकता । इसीलिये ही ज्ञान रुप शक्ति की अपेक्षा से आत्मा को सर्व व्यापक पाना जाता है ।

सार प्रश्न

१. क्या शरीर में आत्मा हैं ?

२. आत्मा में संकोच विकाश गुण हैं ? या नहीं ?

३. सुख दुःखका अनुभव देहमें होता हैं ? या आत्मा में ?

४. क्या शरीर से आत्मा अलग हैं ?

पाठ ३ - आत्मा नित्य है या अनित्य

आत्मा की उत्पत्ति नहीं होती इसलिये यह अनादि कहलाता है और उसका नाश नहीं होता इसलिये वह अविनाशी है । जैसे मिट्टी में से मिट्टी के घडे की उत्पत्ति होती है वैसे उसका नाश भी मिट्टी में ही होता है अर्थात् घडा फूटकर वापिस मिट्टी में मिल जाता है । वैसे आत्मा की उत्पत्ति कब हुई और किस में से हुई इस विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता । आत्मा की उत्पत्ति का उपादन (मूल) कारण कोई न होने से आत्मा नाश होकर पीछे किसमें मिले ? जिसमें से जिसकी उत्पत्ति होती है वह उसका मूल कारण कहलाता है । जैसे-घडे का मूल कारण मिट्टी है वैसे आत्मा की उत्पत्ति होने का मूल कारण कोई न होने से आत्मा को अक्षय, अविनाशी, ध्रुव, नित्य, अविचल इत्यादि नामों से कहा जाता है, - वर्णन किया जाता है ।

मूल द्रव्य की अपेक्षा से आत्मा को नित्य और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य कहा जाता है । गुण की अपेक्षा से आत्मा में गुण का प्रकट और तिरोभाव हुआ करता है । आत्मा में गुण और पर्याय हैं । इनका वर्णन आगे किया जावेगा । उसको भली प्रकार समझने से आत्मा नित्यानित्य है इसे आप सहज ही में समझ जायेंगे ।

आत्मा जो मूल वस्तु है उसे द्रव्य कहते हैं । उसके साथ गौण या प्रकट रुप में जो निरन्तर रहता है उस भाव को गुण कहते हैं और जो अनुक्रम से उत्पन्न होकर बदला करते हैं उनको पर्याय कहते हैं ।

अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्ति, अव्याबाध स्थिति, अगुरुलघु, सादि अनन्त स्थिति, एवं अरुपीपन,

ये आठ आत्मा के गुण हैं । आठ कर्मों के नाश होने से ये आठ गुण उत्पन्न होते हैं अर्थात् प्रगट होते हैं । ये आत्मा के साथ ही रहते हैं । कर्मों के आवरणों से ये गुण दब जाते हैं । आत्मा पर से कर्मों के आवरण हटने से ये गुण प्रगट होते हैं । जब तक सर्वथा कर्मों का क्षय नहीं होता तब तक जिस प्रमाण से आवरण हटते हैं उसी प्रमाण से ये गुण प्रगट होते हैं और जिस प्रमाण से आवरण आते हैं उसी प्रमाण से ये गुण ढ़कते हैं । परन्तु ये गुण निरन्तर आत्मा के साथ ही रहते हैं । ज्ञानादि गुण बाहर के किसी भी स्थान से नहीं आते । जो गुण आत्मा में नहीं हैं उनका बाहर से आना संभव नहीं हो सकता । आत्मा की अनन्त शक्तियां आत्मा की ही हैं, आत्मा में ही रही हुई हैं । आवरणों के दूर होते ही सत्ता में दबी हुई शक्तियां प्रगट होती हैं । इन्हें गुण कहते हैं । आत्मा का और इन गुणों का समवाय (तद्रूप) सम्बन्ध हैं; अभेद सम्बन्ध हैं ।

पर्याय अनुक्रम से होती है और वे बदलती रहती हैं । उपयोग वारम्वार बदलता है इसलिये वह आत्मा का पर्याय कहलाता है। आत्मा का धर्म जानना और देखना है । जब जानने का उपयोग होता है तब देखने का उपयोग नहि होता और जब देखने का उपयोग होता है तब जानने का उपयोग मुख्य रुप से नहीं होता परन्तु दोनों की सत्ता गत शक्ति तो साथ ही होती है । जब ज्ञान का उपयोग बदलता है तब दर्शन मे उपयोग होता है । जब दर्शन का उपयोग बदलता है, तब ज्ञान में उपयोग होता है । इस तरह जानने और देखने में उपयोग अनेक आकार धारण करता है और छोडता है । इस प्रकार उपयोग के वारम्वार बदलने का नाम ही पर्याय है ।

इन पर्यायों की अपेक्षा से आत्मा अनित्य है । पर्यायों के बदलते हुए भी प्रत्येक पर्याय में आत्मा की सत्ता - मौजूदगी है । उस मूल द्रव्य की अपेक्षा आत्मा नित्य है ।

एक सोने की माला को तोडकर उसका कडा बनाया, माला टूटी, कडा बना । माला का नाश हुआ, कडा उत्पन्न हुआ तो भी सोना तो वैसे ही मौजूद है । वैसे ही आत्मा का अमुक उपयोग रुप पर्याय का नाश होता है दूसरे उपयोग रुप पर्याय की उत्पत्ति होती है तो भी इन दोनों अवस्थाओं में आत्मा तो मौजूद ही रहती हैं । इस तरह द्रव्य की अपेक्षा आत्मा की अमरता और पर्याय की अपेक्षा विनाशिता कही जाती है । वास्तव में आत्मा का नाश तो कभी होता ही नहीं है ।

सार प्रश्न

१. आत्मा की उत्पत्ति होती है या नहिं ?

२. आत्मा का नाश होता है या नहीं ?

३. आत्मा के गुण आत्मा के साथ ही होते हैं ?

४. क्या आत्मा की पर्यायें अनुक्रम से होती हैं ?

५. आत्मा अमर हैं या मरता हैं ?

६. पर्यायों की अपेक्षा से कौन और कैसे अनित्य हैं ?

पाठ ४ - पहले कर्म है या आत्मा

बहुत से लोगों के दिलो में यह शंका हुआ करती है कि पहले कर्म है या आत्मा ? यदि पहले जीव मानते हैं तो सवाल पैदा होता है कि, शुद्ध जीव को कर्म किस कारण से लगे ? आत्मा को प्रवृत्ति करने का कौन सा कारण मिला कि जिससे कर्म उत्पन्न होकर उससे चिपक गये ? यदि यह मानें कि, पहले कर्म थे तो प्रश्न उठता है कि जीव बिना, कर्म किसने उत्पन्न किये कि वे आत्मा के पीछे लग गये ? अथवा जीव को किसने पैदा किया कि कर्म उससे लिपट गये ? इसी प्रकार जड स्वभाववाले कर्म स्वभाविकतया आत्मा से कैसे चिपक गये ? यदि मान लें कि कर्मों का स्वभाव चिपकने का ही है तब तो वे शुद्ध आत्मा को भी लग जायेंगे । क्योंकि कर्मो का स्वभाव ही जीवों को चिपक जाना है और यदि ऐसा ही हो तो फिर अनेक जन्म तक परिश्रम कर अनेक प्रकार के तप, जप, ज्ञान, ध्यानादि द्वारा कर्म का नाश कर, आत्मा शुद्ध होने का जो प्रयत्न करता है वह सब व्यर्थ हो जाता है । इस प्रकार विचार करते हुए किसी भी प्रकार से प्रथम आत्मा को या प्रथम कर्म को मानने से समाधान नहीं हो सकता ।

पहले अंडा या मुर्गी ? पहले दिन या रात ? जैसे - इन प्रश्नों के उत्तर में हम यह नहीं कह सकते हैं कि पहले यह और पीछे वह इसी तरह हम यह भी नहीं कह सकते कि पहले कर्म हैं या आत्मा ।

महान् पुरुषों का कथन हैं कि इस गहन प्रश्न को निर्णय करने में तुम्हारा जीवन चला जावेगा तो भी तुमको संतोषकारक उत्तर नहीं मिल सकता तथापि इतनी बात तुम समझ सकते हो

कि तुम बन्धे हुए हो, तुम्हारा सोचा हुआ कुछ नहीं होता । अशांति तुमको बार-बार हैरान करती है । इन सबको तुम चाहो तो दूर कर सकते हो । इस लिये परिश्रम करने से शान्ति मिल सकती है । जब ऐसा है तो पहले कौन ? यदि इस प्रश्नन को अभी तुम हल न भी कर सकोगे तो भी, जैसे मेहनत करके स्वर्ण को मिट्टी से अलग कर सकते हो वैसे ही तुम 'आत्मा' को भी कर्म उपाधि से छुडा सकोगे । सोना जब खान से निकलता है तब वह मिट्टी के साथ मिला हुआ निकलता है । परन्तु यह बात कोई नहीं बता सकता कि यह सोना मिट्टी के साथ कब मिला । तो भी अग्नि में तपाकर उसे शुद्ध कर लिया जाता है । इसी प्रकार तुम आत्मा को भी कर्म उपाधि से तपश्चरण द्वारा अलग कर सकते हो ।

इससे यह समझ में आता है कि, पहले कर्म है या आत्मा इसका निर्णय तुम यदि अभी न भी कर सको तो भी आत्मा को कर्मों से अलग करने की शक्ति तुममें हैं । इसलिये तुम्हें चाहिये कि कर्मों को अलग करने के उपाय ज्ञानी पुरुषों ने स्वयं अनुभव करके जो बताये हैं उनको व्यवहार में लावें ।

यहां पर कर्मों को विशेष पोषण किन कारणों से मिलता है ? और कर्म आत्मा से अलग किन कारणों से होते हैं ? इन दोनों उपायों को जानने की आवश्यकता है । इनका वर्णन आगे किया जावेगा ।

पहले कर्म है या आत्मा : इस प्रश्नके उत्तर में ज्ञानी पुरुषों का उत्तर यह है कि, दोनों शाश्वत हैं । अनादि है । तो भी इस कर्म में इस प्रकार की विशेषता रही हुई है कि अमुक प्रकार के प्रयत्नों से वे आत्मा से अलग हो जाते हैं । इसलिये इन प्रयत्नों का करना आवश्यक है ।

सार प्रश्न

१. पहले कर्म है या आत्मा ?

२. क्या कर्म आत्मा से अलग हो सकते हैं ?

३. प्रथम कर्म है या आत्मा इसके सम्बन्ध में ज्ञानी पुरुष क्या कहते हैं ?

४. कर्म में आत्मा से अलग होने की योग्यता हैं ? या नहीं ?

पाठ ५ - आत्मा के साथ कर्म के पुद्गलों का संबंध

जब आत्मा अपना भान भूलकर, अपने स्वभाव में से मन द्वारा, वचन द्वारा और शरीर द्वारा रागद्वेष वाली प्रवृत्ति करता है उस समय, लोहा जैसे चुम्बक पत्थर की तरफ आकर्षित होता है वैसे, इस जगत में सर्वत्र भरे हुए पुद्गल परमाणुओं में से अपने भावों के योग्य कर्म रुप पुद्गलों को अपनी तरफ आकर्षित करता है तथा तीव्र या मन्द अपने भावों के प्रमाण में वह पुद्गलों को आत्म-प्रदेशों के साथ जोड लेता है ।

इन राग द्वेष वाले भावों के चार विभाग है । एक विपरीत प्रवृत्तिवाला भाव जिसे मिथ्यात्व कहते हैं । इसके कारण जो वस्तु आत्मा नहीं हैं, उसमें आत्मा का बोध होता है । जो वस्तु अनित्य है, असार है उसमें नित्यता और सारता का भान होता है । जो अपवित्र है उसमें पवित्रता का ज्ञान होता है । यह मिथ्यात्व की चित्तवृत्ति (भाव), आत्म-भान को बहुत ही ज्यादा भुला देती है, यह देहादि जड पदार्थों में सत्यता, नित्यता, सारभूतता और पवित्रता की बुद्धि धारण कराती है । सत्य, नित्य, सारभूत और पवित्र तो आत्मा ही है इसके बदले जड पदार्थों में ऐसी भावना और प्रवृत्ति होना उसको मिथ्यात्व कहते है । (१)

कर्मपुग्द्रलों का आत्मा के साथ सम्बन्ध जोडनेवाली दूसरी भावना का नाम 'अविरति' है । अविरति का संक्षिप्त अर्थ है - इच्छाओं को स्वाधीन छोडना । आत्मशक्ति प्राप्त करने की इच्छा के बदले पुद्गल प्राप्त करने की इच्छा करना । आत्मशक्ति का उपयोग आत्मानन्द के लिये न कर पुद्गलानन्द प्राप्त करने में करना । इन्द्रिय

विषयों के संतोष के तरफ ही अपनी आत्मशक्ति को लगाना । यही अविरति है । इससे आत्मा के साथ पुद्‌गलों का सम्बन्ध विशेष रुप से बढ़ता जाता है । (२)

आत्मा के साथ कर्म पुद्‌गलों का सम्बन्ध बढ़ानेवाली तीसरी भावना कषायों की है । इन्द्रियों का पोषण करने - विषयों की तृप्ति करने के लिये; क्रोध, मान, माया और लोभ का उपयोग किया जाता है । इन्हीं चारों का नाम कषाय है । कभी इन विषयों की प्राप्ति के लिये, कभी इनके रक्षण करने के लिये और कभी अपने या दूसरे के लिये इन जड पुद्‌गलों का उपयोग करने में इन चार कषायों में किसी एक कषाय की भावना की मुख्यता होती है । यह कषाय-भावना आत्मा के साथ पुद्‌गलों का सम्बन्ध विशेष दृढ कराती है और टिकाये रखती है । (३)

चौथी भावना आत्मा के साथ कर्म पुद्‌गलों का सम्बन्ध जोडनेवाली मन, वचन और काया की प्रवृत्ति की है । यह भावना राग उत्पन्न कराकर, या द्वेष उत्पन्न कराकर, अपने लिये या दूसरें के लिये ये तीनो मनादि की प्रवृत्तियाँ कर्म पुद्‌गलों का संचय कराती हैं । ये पुद्‌गल शुभ भी होते हैं और अशुभ भी होते हैं; परन्तु दोनों बन्द रुप तो हैं ही । (४)

इन चारों में से मिथ्यात्व का भाव दूसरे भावों की अपेक्षा विशेष रुप से आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध कराता है और उन्हें टिका भी रखता है । विचार करने से मालूम होगा कि जैसे वृक्ष को टिका रखनेवाली और पोषण करनेवाली उसकी जड है वैसे ही इन कर्मों को टिका रखनेवाली और पोषण करनेवाली यह मिथ्यात्व की भावना है । यदि मिथ्यात्व की भावना न हो तो अविरति इच्छाओं की भावना उससे कम कर्म संग्रह कराती है ।

यदि मिथ्यात्व और अविरति ये दोनों भावनाएं न हों तो कषाय की भावना इनसे भी कम कर्मो का संग्रह कराती है और यदि ये तीनों ही न हों तब मनादि तीन की भावना बहुत ही कम कर्म बन्ध कराती है। इस विवेचन से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि आत्मभान को भूलना 'मिथ्यात्व' है। इच्छाओं को वश में रखने का नियम न करना 'अविरति' है। राग द्वेषवाली प्रवृत्ति 'कषाय' है। तथा मन, वचन, शरीर की सामान्य प्रवृत्ति योग है। कभी एक, कभी दो, कभी तीन, कभी चारों प्रकार के भाव एक साथ होते हैं।

इन चार कारणों द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म पुद्गलों का आत्मा के साथ सम्बन्ध होता है। वह सम्बन्ध उन-उन कारणों के द्वारा वृद्धि प्राप्त करता है और निमित्त की प्रबलता से लम्बे अर्से तक टिका रहता है।

सार प्रश्न

१. कर्मो का आकर्षण किससे होता हैं ?

२. मिथ्यात्व किसे कहते हैं ?

३. अविरति किसे कहते हैं ?

४. कषाय किसे कहते हैं ?

५. योग किसे कहते हैं ?

६. किस से कर्म कम ग्रहण किये जाते हैं ?

७. कर्म किस कारण से टिके रहते हैं ?

पाठ ६ - जो क्रिया द्वारा किया जाय उसे कर्म कहते हैं

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और मनादि योगों के निमित्त को पाकर जीव द्वारा जो क्रिया होती है उसे कर्म कहते हैं । जीव और आत्मा ये एक वस्तु के दो नाम हैं । यह कर्म आठ विभागो में विभाजित होता है - (१) ज्ञानावरणीय (२) दर्शनावरणीय (३) वेदनीय (४) मोहनीय (५) आयुष्य (६) नाम (७) गोत्र (८) अंतराय ये आठ कर्म हैं । इनके अवान्तर भेद एक सौ अट्ठावन हैं । आत्मा अज्ञान दशा में इन आठ कर्मो को बांधता है ।

जो आत्मा की ज्ञान शक्ति को दबा देता हैं उसे ज्ञानावरणीय कर्म (२) आत्मा की दर्शन (देखनेकी) शक्ति को जो दबाता है उसे दर्शनावरणीय कर्म (३) आत्मा की अव्याबाध (किसी तरह से किसी से भी बाधा, पीडा न हो) शक्ति को जो दबाता है उसे वेदनीय कर्म (४) जो आत्मा के अनन्त आनन्द को ढ़क देता है उसे मोहनीय कर्म (५) जो आत्मा के एक स्वरुप में रहने रुप अक्षय अनन्त स्थिति को आवरण करता है उसे आयुष्य कर्म; (६) आत्मा के अरुपी गुण को जो ढ़क देता हैं उसे नाम कर्म; (७) अगुरुलघु (हल्की भी नहीं और भारी भी नहीं ऐसी) रुप आत्मा की स्वभाव सिद्ध स्थिति को जो ढ़कता है, उसे गोत्र कर्म (८) एवं आत्मा की अनन्त बल-शक्ति कों जो दबाता है उसे अन्तराय कर्म कहते हैं । इस प्रकार के आठों कर्मों के स्वभाव हैं । सुख दुःख आदि विविध प्रकार की अच्छी और बुरी शक्तियों का इन कर्मों में समावेश हो जाता है ।

ऊपर बताये हुए निमित्तों की सहायता से आत्मा भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रवृत्तियां कर, अलग-अलग कर्मों के आवरणों को उत्पन्न करता है । जैसे कि, ज्ञानी या दर्शन वाले जीवों के ज्ञान दर्शन प्रगट होने के कारणों में विघ्न करने से, उनकी निन्दा करने से, उनकी आशातना करने से, उन पर आघात करने से, अथवा उनसे द्वेष या ईर्षा करने से आत्मा 'ज्ञानावरणीय तथा दर्शनावरणीय कर्म बांधता है । (१-२)

सुदेव की पूजा करने से, सुगुरु की सेवा करने से, दया रखने से, क्षमा करने से, गृहस्थ धर्म के अणुव्रत पालने से, रागभाव-सहित महाव्रत पालने से, धर्म के लिये कष्ट सहन करने से, आत्मजागृति विना ओध संज्ञा से धर्म मार्ग में चलने रुप अकाम निर्जरा करने से आत्मा 'साता-वेदनीय (सुख प्राप्त करनेवाला) कर्म' बांधता है । (३)

अन्य जीवों को दुःख देने से, जीवों का वध करने से, जीवों को रुलाने से, तडपाने से, सताने से, शोक में डालने से, तथा स्वयं भी इष्ट वस्तु के वियोग के कारण कुढने से, शोक करने से, रोने से इत्यादि कारणों से आत्मा 'असाता-वेदनीय (दुःख देनेवाला) कर्म' बांधता है । (३)

ज्ञानवानों की, ज्ञान की, संघ की, धर्म की और देव की निन्दा करने से, धर्मी मनुष्यों पर दोष लगाने से, असत्य मार्ग का प्रचार करने से गुरु आदि का अपमान करने से, तीव्र मिथ्यात्व के भावों से और अनर्थ का आग्रह करने से आत्मा 'दर्शन मोहनीय कर्म' का बन्ध करता है । (४)

क्रोध, मान, माया (कपट) और लोभ के तीव्र उदय के आधीन होने से, कामोत्तेजक चेष्टाएं करने से, हंसी, मजाक करने से, दूसरे के सुखों का नाश करने से, बुरे कार्यों में दूसरे को उत्साहित करने से, अपने स्वार्थ के लिये दूसरों का मन वश करने से, दूसरों को डराने से, शोक या रुदन करने से, दूसरों को कटाने से, किसी पदार्थ को देखकर उसकी घृणा करने से, आत्मा हास्य, रति, अरति, भय, शोक और दुगंछा रुप छः प्रकार की 'मोहनीय कर्म की' प्रकृतियों को बांधता है। (४)

विषय भोग में बहुत आसक्ति रखने से, ईर्षालु स्वभाव से, झूठ बोलने से, बहुत ही मायावी (कपटी) स्वभाव से, अर्थात् कपट करने से और परस्त्री लम्पटता से, आत्मा स्त्री जन्म दिलानेवाले, 'स्त्री वेदकर्म' का बन्ध करता है। (४)

अपनी स्त्री मे संतुष्ट रहने से, किसी की ईर्षा न करने से, क्रोध, मान, माया, लोभ बहुत ही मंद (कम) करने से, सरल स्वभावी होने से, और ब्रह्मचर्य का पालन करने आदि से, आत्मा पुरुष जन्म दिलानेवाले, "पुरुष वेद कर्म" का बंध करता है। (४)

स्त्री पुरुष के साथ काम क्रीडा करने से, विषय भोग की तीव्र अभिलाषा से, क्रोधादि कषायों की प्रबलता से और बलात्कार से सती स्त्री-पुरुषों का शील खंडन करने से, आत्मा नपुंसक का जन्म देनेवाले "नपुंसक वेद" नामक कर्म का बन्ध करता है। (४)

साधु पुरुषों की निन्दा करने से, धर्म परायण जीवों को धर्म में विघ्न करने से, मदिरा मांस आदि को त्याग करनेवाले जीवों के आगे उन वस्तुओं के गुणों को अच्छा बताकर त्याग के भावों

को छुडाने से या स्वयं छोडने से, सच्चरित्र के मार्ग को दूषित करने से, या बताने से, संसार अवस्था के गुणों का वर्णन करने से, और शांत पडे हुए कषायों को प्रेरणा करके जागृत करने से आत्मा "चारित्र मोहनीय कर्म" बांधता है । (४)

सार प्रश्न

१. कर्म का अर्थ क्या हैं ?

२. आठ कर्मों के नाम बताइये ?

३. कौन सा कर्म आत्मा की कौन सी शक्ति को दबाता हैं ?

४. ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध किस से होता हैं ?

५. दर्शनावरणीय कर्म का बन्ध कैंसे होता हैं ?

६. वेदनीय कर्म का बन्ध कैसे होता हैं ?

७. सम्यक्त्व मोहनीय कर्म का बन्ध कैसे होता हैं ?

८. चारित्र मोहनीय कर्म कैंसे बन्धता हैं ?

पाठ ७ - जो क्रिया द्वारा किया जाय उसे कर्म कहते हैं ।

मनुष्य और पशु आदि का नाश करने से, अनेक जीवों का जिनसे संहार हो सके ऐसे शस्त्र आदि निर्माण करने से, निर्माण करने के कार्य प्रारम्भ करने से, हद से ज्यादा परिग्रह जमा करने से, निर्दयता से, मांस खाने से, वैर विरोध बढ़ाने से, रौद्र-भयंकर परिणाम-वाली भावनाएं मन में उत्पन्न करने से, आमरण क्रोधादि कषायों को टिका रखकर समाधान न करने से, जीवों का नाश हो ऐसा प्रबल झूठ बोलने से, दूसरे का धन चोरी करने से, बार-बार विषय सेवन करने से, और इन्द्रियों के अधीन जीवन जीने से आत्मा नरक के आयुष्य का बन्ध करता है । (५)

सत्यासत्य का विचार न करने रुप मन की मूढता से, अपने और दूसरे को पीडा उत्पन्न करे ऐसे आर्त्तध्यान की मुख्यतावाली प्रवृत्ति से, कृत पाप छिपाने से, असत्य मार्ग का उपदेश देने से, धर्म मार्ग का नाश करने से, छल-प्रपञ्च करने से, आरम्भ परिग्रह बढ़ाने से, आदि कारणों से आत्मा तिर्यंच के (पशु आदिके) आयुष्य का बन्ध करता है । (५)

आवश्यकतानुसार कम आरम्भ करने से, थोडा परिग्रह रखने से, नम्रता रखने से, सरलता धारण करने से, धर्मध्यान में प्रीति बढ़ाने से, मध्यस्थपरिणाम रखने से, दूसरों को आवश्यकता के समय उपकार बुद्धि से अपनी जरुरत के सामान में से भी दे देने से, देव और गुरु का पूजन करने से, सत्पुरुषों का सन्मान करने से, प्रिय और सत्य बोलने से, निर्मल बुद्धि रखने से, और प्रत्येक

कामों में मध्यस्थता रखने से इत्यादि कारणों से आत्मा ''मनुष्य-आयुष्य'' का बन्ध करता है ।

सराग चारित्र पालने से, त्याग मार्ग ग्रहण करने से, गृहस्थ धर्म के व्रत पालने से, आत्मिक जागृति बिना भी पूर्व के कर्म कम हों ऐसी प्रवृत्ति करने से, ज्ञानी पुरुषों की संगति से, धर्म सुनने से, सत्पात्रों को दान देने से, तप करने से, अज्ञान तप करने से, अच्छी भावनाओं सहित मरने से, इत्यादि कारणों से आत्मा देवगति योग्य ''देव के आयुष्य'' का बन्ध करता है । (५)

दूसरों की निन्दा करने से, अपनी प्रसंशा करने से, हिंसा करने से, झूठ बोलने से, चोरी करने से, विषय सेवन से, आरम्भ बढ़ाने से, परिग्रह रखने से, कठोर वचन बोलने से, निष्प्रयोजनीय बोलने से, आक्रोश करने से, दूसरों के सौभाग्य का नाश करने से, जादू टोने करने से, कौतूहल पूर्ण स्वभाव से, अग्नि लगाने से, ठगी करने से, मिथ्यात्व बढ़ाने से, चित्त की चपलता से, झूठी गवाही देने से, देवादि के बहाने अपना निर्वाह करने से, मन्दिर, धर्मशाला, उपाश्रय, प्रतिमा आदि का नाश करने से, अङ्गारे गिराना आदि कर्मों से आत्मा ''अशुभ नाम कर्म'' बाँधता है । इस कर्म के फल स्वरुप बिना प्रयोजन भी निन्दा होती है । (६)

सरल स्वभाव रखने से, सम्यगदर्शन धारण करने से, गुणानुराग बढाने से, मन की चपलता कम करने से, सत्य के पक्ष में रहने से, नीति पूर्वक जीवन निर्वाह करने से, अहिंसा पालने से, सत्य बोलने से, चोरी का त्याग करने से, शील पालने से, संतोष रखने से, थोडा बोलने से, दुःखी जीवों की मदद करने से, सुखी जीवों को देखकर प्रसन्न होने से, अल्पकषाय से, धर्म

स्थानों का उद्धार करने से, संसार से विरक्त रहेने से, प्रमाद न करने से, क्षमा रखने से एवं धर्मात्मा मनुष्यों का सत्कार करने से, इत्यादि कारणों से आत्मा शुभ नाम कर्म बाँधता है । इस कर्म के फलस्वरुप लोगो में प्रशंसा आदि प्राप्त होती है । (६)

दूसरों की निन्दा करने से, अवज्ञा करने से, हँसी करने से, गुणों को छिपाने से, झूठे दोष कहने से, अपनी प्रशंसा करने से, न होते हुए भी अपने में गुण बताने से, अपने दोषों के होते हुए भी उनको छुपाने से और जाति कुल आदि का गर्व करने से, आत्मा "नीच गोत्र कर्म" का बन्ध करता है जिसके फलस्वरुप जीव नीच कुल में उत्पन्न होता है । (७)

गुणी के गुणों की प्रशंसा करने से, अपने पर किये हुए उपकार को मानने से, अपने दोषों की निन्दा करने से, जाति कुल का अभिमान न करने से, निरभिमानी व्यवहार रखने से, मन, वचन और शरीर से ज्ञानियों तथा गुणियों का विनय करने से, आत्मा उच्च कुल में जन्म दिलाने योग्य "उच्च गोत्र कर्म" का बन्ध करता है । (७)

दान देनेवाले को रोकने से, दान लेनेवाले को बाधा डालने से, धर्म कार्य में या दूसरे को मदद करने के कार्य में प्रयत्न करनेवाले को रोकने से, भोगपभोग (जो वस्तु एक बार उपयोग में आवे उसे भोग और जो वस्तु बार-बार उपयोग में आवे उसे उपभोग की वस्तु कहते हैं) का उपयोग करने के कार्य में जीवों को रोकने से, आत्मा "अन्तरायकर्म" का बन्ध करता है । इससे आत्मा की अनन्तवीर्य गुण की शक्ति दब जाती है । (८)

इस प्रकार आत्मा अपनी शक्ति का दुरोपयोग करके कर्म बांधता है और चार गतियों में सुख दुःखादि का अनुभव करता हुआ परिभ्रमण करता है ।

सार प्रश्न

१. नरकायुष्य का कैसे बन्ध होता हैं ?

२. तिर्यंच का आयुष्य कैसे बन्ध होता हैं ?

३. मनुष्य आयुष्य का कैसे बन्ध होता हैं ?

४. देवायुष्य का बन्ध कैसे होता हैं ?

५. शुभ नाम कर्म का बन्ध किन कारणों से होता हैं ?

६. अशुभ नाम कर्म बन्धने के कारण क्या हैं ?

७. उच्च गोत्र बन्धने के क्या हेतु हैं ?

८. नीच गोत्र का बन्ध कैसे होता है ?

९. अन्तराय कर्म किन कारणों से बन्ध होता हैं ?

पाठ ८ - बन्ध

आत्मा मिथ्यात्वादि हेतुओं के कारण जिन कर्म पुद्गलों का संग्रह करता है उनका बन्ध चार प्रकार से होता है । (१) कर्म का स्वभाव । (२) कर्म की स्थिति (३) कर्म का रस । (४) कर्म के प्रदेश । जिनको प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश कहते हैं । दृष्टान्त से यह बात विशेष स्पष्ट हो जायेगी । एक लड्डू है। इसमें लड्डू का स्वभाव, लड्डू की स्थिति, लड्डू का रस और लड्डू के परमाणु । इन चार बातों का समावेश होता है ।

जैसे पित्त, कफ और वात को दूर करनेवाले तीन प्रकार के जुदा - जुदा द्रव्यों से बने हुए लड्डू हैं । जो लड्डू पित्त को दूर करनेवाले द्रव्यों से बना है वह पित्त को दूर करता है, कफ को दूर करनेवाले द्रव्यों से बना हुआ लड्डू कफ को दूर करता है । वायु को दूर करनेवाले द्रव्यों से बना हुआ लड्डू वायु को दूर करता है । यह स्वभाव कहलाता है । (१)

कोई लड्डू पन्द्रह दिन, कोई बीस दिन, कोई तीस दिन तक ऋतु के अनुसार तथा अन्दर डाले गये द्रव्य के प्रमाण से रहते हैं, खराब नहीं होते । यह लड्डू की स्थिति कहलाती है । (२)

किसी लड्डू में घी, तथा गुड अथवा चीनी बराबर की डाली जाती है, किसी में दुगुनी भी डाली जाती है और किसी में चौगुनी भी डाली जाती है । यह रस कहलाता है । (३)

किसी लड्डू में आटा अधिक होता है तथा किसी में कम होता है । यह उसका प्रदेश-परमाणुओं का समूह कहलाता है । (४)

इस दृष्टान्त को समझाने के बाद अब कर्म बन्ध के सम्बन्ध में इसका विचार करते हैं। किसी कर्म का स्वभाव ज्ञानको, किसी कर्म का स्वभाव दर्शन को, किसी का चारित्र को, किसी का आत्मा की अनन्त शक्ति को दबाने का, किसी का यश या अपयश फैलाने का, किसी कर्म का देवादि गति में ले जाने का, किसी कर्म का उच्च नीच गोत्र में जन्म देने का, और कोई कर्म का स्वभाव सुख दुःख देने का होता है। यह सब, कर्म का 'स्वभाव-बन्ध' कहलाता है। (१)

किसी कर्म की स्थिति सौ वर्ष की, किसी की हजार वर्ष की, किसी की लाख वर्ष की और किसी की पल्योपम की या सागरोपम की होती है। स्थिति के अनुसार आत्मा सुख, दुःख, आयुष्य, मोह, अज्ञानादि को भोगता है। यह कर्म की स्थिति कहलाती है अर्थात् इसे 'स्थिति बन्ध' कहते हैं। (२)

किसी कर्म में दुःख देने का तीव्र रस होता हैं, किसी कर्म में सुख शांति देने का तीव्र रस होता है, किसी कर्म में मंद-थोडा रस सुख दुःख देने का होता है। इसीसे अधिक अथवा कम सुख दुःख इस जीव को भोगना पडता है। इसे 'रसबन्ध' कहते हैं। (३)

किसी कर्म में परमाणु बहुत होते हैं और रस थोडा होता है, किसी कर्म में परमाणु थोडे होते हैं और रस बहुत होता है। इस कारण से जीव थोडे समय में बहुत सुख दुःख भोगता है। किसी समय पुद्गल परमाणु अधिक हों तो अधिक समय में थोडा सुख दुःख भोगता है। यह कर्म का 'प्रदेश बन्ध' कहलाता है। (४)

इस बात को समझाने का उद्देश्य यह है कि, जब आत्मा किसी भी इच्छा की तरफ प्रेरित होकर तीव्र या मंद राग-द्वेषवाली जैसी जैसी भावना करता है उसी के प्रमाणानुसार, उस उस स्वभाव कें, वैसे वैसे रसवाले, वैसी वैसी स्थितिवाले और उतने ही प्रदेशवाले कर्म बांधता है । कार्य तो एक ही होता है परन्तु उसमें भावना के (रसके) प्रमाण में कम या ज्यादा कर्म बन्ध होता है । उदाहरणार्थ, जैसे नीम का रस कडवा है परन्तु उसमें ज्यादा पानी मिलाने से कडवापन कम रह जाता है और वही रस यदि उबालकर उसका पानी थोडा रहने दिया जावे तो कडवापन विशेष हो जाता है । इस दृष्टांत से यह स्पष्ट होता है कि किसी भी खराब काम में प्रवृत्ति करते समय अपनी तीव्र या मन्द उत्साहपूर्ण या पश्चात्तापवाली जैसी भावना होती है उसके अनुसार कर्म का बन्ध होता है और बन्ध के अनुरुप ही उसका उदय भी होता है । कई बार हम कई मनुष्यों को रोग से व्यथित होते, बहुत ही पीडित अवस्था में, कंगाल हालत में, असहाय अवस्था में देखते हैं, एवं वे बहुत काल तक दुस्सह कष्टों को भोगते हुए त्राहि - त्राहि पुकारते हुए मरते हैं । ये सब तीव्र खराब कर्मों के ही फल हैं । कोई मनुष्य थोडी सी बीमारी भोगकर अथवा थोडा निमित्त मिलने पर मर जाता है । इस मनुष्य के अशुभ कर्मों का विपाक तीव्र नहीं था ऐसा हमें उसके चालू जीवन पर से ज्ञात हो सकता है ।

पुण्य प्रकृति के दृष्टांत में गन्ने का रस मीठा होता है परन्तु उसमें पानी डालने से उसकी मिठास कम हो जाती है । वही रस जब उबालकर उसका थोडा पानी शेष रहने दिया जाता है तो उसमें मिठास विशेष हो जाती है । यह द्रष्टांत पुण्य प्रकृति से उत्पन्न होनेवाले सुख के साथ बराबर लागू पडता है । कई मनुष्य शरीर से निरोगी

होते हैं । उनकी आयु लम्बी होती है । धन, धान्य, इज्जत, आबरू, मान, अधिकार विशेष होते हैं । पुत्र, पुत्री, स्त्री, कुटुम्ब अच्छे और मददगार होते हैं । बुद्धि विवेक आदि पूर्ण होते हैं । धार्मिक और परोपकारी जीवन व्यतीत करते हैं । जिन्दगी में दुःख उनके पास तक नहीं फटकने पाता । ये सब पुण्य प्रकृति वाले तीव्र स्वभाव के मीठे फल हैं । कई जीव सामान्य सुखी होते है । यह पुण्यबन्ध का मन्द विपाक है ।

इससे यह निश्चय होता है कि शुभ या अशुभ कार्य में तीव्र या मंद जैसा परिणाम होता है वैसे ही तीव्र या मंद शुभाशुभ कर्म का बन्ध बन्धता है और वैसा ही उसके फल का अनुभव भी करना पडता है ।

यहां यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि क्रोधादि कषाय की अधिकता से कर्म का रसबन्ध और स्थितिबन्ध होता है और मन, वचन, काया के योग की प्रवृत्ति से कर्म का प्रदेशबन्ध एवं प्रकृतिबन्ध होता है ।

दुनिया में राजा या रंक, सुखी या दुःखी, बुद्धिमान या निर्बुद्धि, रोगी या निरोगी, पूज्य या अवहेलित, इत्यादि जो विविध स्थितियां दिखाई देती है इन सबका मूल कारण, जान या अन्जान में बांधे हुए शुभाशुभ कर्मो का ही फल है । ऐसा समझदार मनुष्य को चाहिये कि वह आत्मज्ञान प्राप्त करानेवाली हितावह प्रवृत्ति करे । भविष्य में तुम्हें कैसी गति प्राप्त करना है ? यह तुम्हारे वर्तमान के चालु पुरुषार्थ पर निर्भर है । अपने भावी जीवन के उत्पादक तुम खुद ही हो । तुम जैसे बनना चाहोगे और जैसा प्रयत्न करोगे वैसे ही तुम बनोगे ।

सार प्रश्न

१. कर्म का स्वभाव क्या हैं ?

२. कर्म की स्थिति क्या हैं ?

३. कर्म का रस क्या हैं ?

४. कर्म के परमाणु क्या हैं ?

५. तीव्र रसवाले भाव कैसे होते है ?

६. मन्द रसवाले भाव कैसे होते हैं ?

७. कषाय से किसका बंध होता हैं ?

८. मनादि योग से बन्ध किसका होता हैं ?

९. संसार की विविधता का क्या कारण हैं ?

पाठ ९ - विचार शक्ति और उसका परिवर्तन ।

आत्मा की बार-बार परिणमन प्राप्त करनेवाली शक्ति को विचार अथवा परिणाम कहते हैं ।

आत्मा अपने स्वरुप, स्थिरता को छोडकर नीचे आकर जब राग-द्वेष में मिलता है तब वह राग-द्वेष में मिले हुए परिणामों के रुप में बदल जाता है । यह आत्मा की एक शक्ति है परन्तु राग-द्वेष के साथ मिलने से यह अशुद्ध शक्ति कहलाती है । यह शक्ति प्रथम मन में फिर वचन में, और अन्त में शरीर में इन्द्रियों द्वारा प्रगट होती है ।

यह विचारशक्ति चार भागों में विभक्त होती है । (१) अशुद्ध विचार (२) अशुभ तिचार (३) शुभ विचार (४) शुद्ध विचार । दूसरे शब्दों में कहें तो रौद्र, आर्त्त, धर्म और शुक्ल । इन चार प्रकार के विचारों का परिवर्तन हो सकता है । यदि परिवर्तन करना आता हो तो अधम शक्ति उच्च स्वरुप में परिवर्तन होकर आत्मा की महान शक्तियों को प्रकट करती है और आत्मा परम शांति में मग्न रहता है । हम प्रथम चार प्रकार के परिणामों को बताकर बाद में उनको उच्च रुप में कैसे बदल सकते हैं सो कहेंगे । क्रूर, कठोर, निष्ठुर और निर्दय, जीवों को मारने के, मरवानेके, तडपा तडपा कर मारने के, मारकर प्रसन्न होने के विचार अशुद्ध विचार हैं । हिंसा को पोषण मिले ऐसे ग्रंथ बनाने से, जीवों का नाश हो ऐसा झूठ बोलने से, चोरी करने से, देश, जागीर, जमीन, स्त्री, जानवर, लक्ष्मी आदि को लूट या छीन लेने के विचार अशुद्ध

परिणाम उत्पन्न करने वाले हैं । धनादि की रक्षा के लिये जीवों के नाश करने के विचार करना, तथा तीव्र क्रोध के परिणाम, प्रबल लोभ के और महत्व की हानि को बचाने के लिये जीवों का संहार करने के विचार, ये सब अशुद्ध परिणाम हैं । (१)

पांच इन्द्रियों के शब्द, रुप, रस, गंध और स्पर्श आदि विषयों की प्राप्ति के लिये जो जो विचार उत्पन्न होते हैं वे सब अशुभ परिणाम हैं । प्रियजनों के वियोग से, अनिष्ट वस्तु के संयोग से, रोग की उत्पत्ति से और इच्छित वस्तु को प्राप्त करने के इरादे से जो जो विकल्प किये जाते हैं, वे सभी अशुभ विचार अथवा आत्मा के अशुभ परिणाम हैं । (२)

धर्म निमित्त, परमार्थ के लिये, दूसरों को सुखी करने के लिये, परोपकारी जीवन बिताने के लिये जो जो विचार किये जाते हैं वे सभी शुभ परिणाम उत्पन्न करनेवाले हैं । (३)

आत्मा के शुद्ध स्वरुप का चिन्तवन करने के, आत्म स्वरुप में स्थिरता हो ऐसे ध्यान समाधि के प्रयत्नवाले, स्वरुप सन्मुख होने में सहायक जो जो विचार किये जाते हैं, वे शुद्ध परिणाम हैं । (४)

अशुद्ध विचारों से नरकगति प्राप्त होती है । अशुभ विचारों से तिर्यंचगति प्राप्त होती है । शुभ विचारों से मनुष्य गति और देवगति प्राप्त होती है । एवं शुद्ध विचारों से मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

यह परिणाम शक्ति जैसे उच्च विचारो में परिवर्तन हो सकती है वैसे नीचे की नीच स्थिति में भी परिवर्तन हो सकती है । नीची स्थिति में विचारों को लाने का कार्य सरल है एवं लम्बे अर्से के अभ्यास के कारण किसी के सिखाये बिना भी वह आ सकते

हैं । ऊंचे विचार करने के लिये जरा पुरुषार्थ-मेहनत करने की आवश्यकता है किन्तु अभ्यास के बाद इसके लिये भी विशेष परिश्रम की आवश्यकता नहीं पडती ।

जब हमें जाडा लगता हो तो गरमी उत्पन्न करते हैं । उस समय जाडे के परमाणु गरमी के रुप में बदल जाते हैं । गरमी लगती हो तो शीतल परमाणु उत्पन्न करते हैं उस समय गरमी के परमाणु शीतलता में बदल जाते हैं । विशेष अंधेरा हो तो हम दीपक आदि का प्रकाश करते हैं इससे अन्धकार के पुद्गल प्रकाश रुप में बदल जाते हैं । इसी प्रकार जब अपने मन में अशुद्ध या अशुभ विचारोंवाले परिणाम उत्पन्न होते हों तब हमें चाहिये कि शुद्ध या शुभ परिणामवाले विचारों को अपने मन में लावें जिससे अशुद्ध या अशुभ परिणाम शुद्ध या शुभ रुप में बदल जावेंगे। अन्धकार को दूर करने के लिये प्रकाश लाने को जितने परिश्रम की जरुरत है उससे भी कम परिश्रम विचारों को बदलने में है, क्योंकि प्रकाश तो बाहर से लाना पडता है और विचार तो अन्दर ही होते हैं जो तत्काल ही बदले जा सकते हैं । अशुद्ध या अशुभ विचारों के बदलते ही शुद्ध या शुभ विचारों का प्रवाह शुरु हो जाता है । मात्र "ये अशुद्ध या अशुभ विचार हैं" इतनी अपने को सावधानी अवश्य होनी चाहिये । कई बार सावधान न होते हुए भी निमित्त मिलने से हम अपने विचार बदल डालते हैं;और हमें मालूम भी नहीं होता कि हमारे विचार बदल गये हैं । परन्तु ऐसा होता है कई बार ।

उदाहरण लो - किसी नाटक घर में अनेक मनुष्य बैठे है सभी नाटक देखने में तल्लीन हैं । उस समय नाटक देखने या नाटक

सम्बन्धी विचारों के सिवाय और कोई विचार उनके दिल में नहीं हैं। इतने में अकस्मात् वहां आग लग गई। बस उसी समय दौडा-दौड और शोरगुल होने लगा। आवाज पर आवाज आने लगी। सब आग! आग! पानी लाओ! पानी लाओ! फायर ब्रिगेड को खबर दो! अमुक को बचाओ आदि चिल्लाने लगे। बस हो गया, पहले वे विचारों में से अब एक भी विचार नहीं है सब विचार बदल गये। अब तो विचार भी आग के हैं और बातें भी उसी की हैं। क्योंकि देखने के आनन्द से भी प्राण रक्षा का आनन्द बलवान है इस लिये जान बचाने के विचारों ने देखने के विचारों को एक दम बदल दिया। इसी तरह अशुद्ध या अशुभ विचारों के सुख की अपेक्षा शुद्ध या शुभ विचारों के आनन्द को यदि हम विशेष अनुभव करें (समझें) तो हम बहुत थोडे ही समय में बहुत कम परिश्रम द्वारा अपने विचारों को बदल सकते हैं।

इसके सिवाय जब हम किसी महात्मा पुरुष का सहवास करते हैं या धर्मोपदेश होता हो या श्मशान में किसी युवक, राजकुमार के शरीर का अग्नि दाह होता हो उस समय हमारे विचारों में बहुत परिवर्तन हो जाता है। संसार से उदासीनता, प्रबल वैराग्य और परमात्मा के मार्ग में चलने की उत्कट इच्छा हो जाती है। ये प्रबल निमित्त हैं जिनके कारण पहले के विचार बदल जाते हैं।

इस प्रकार जब जब काम, क्रोध, लोभ, मान, राग, द्वेष, आदि के विचार मन में आवें तब तब हमें इनसे विरुद्ध प्रकृतिवाले ब्रह्मचारी, क्षमावान्, संतोषी, नम्र स्वभावके, वैराग्यवान् और प्रेमाल स्वभाव के गुणवाले, शांत जीवन व्यतीत करनेवाले महान् पुरुषों की जीवनियों का विचार करना चाहिये। अशुद्ध या अशुभ

विचारवाले मनुष्यों को जो कडवे फलों (दुःखों) का अनुभव करना पडा हो उनका ख्याल रखना चाहिये अथवा ऐसी प्रवृत्तियों के त्याग करनेवालों को जो उत्तम फल (लाभ) हुआ हो उसका विचार करना चाहिये । ऐसा करने से हमारी नीच वृत्तियां अवश्यमेव बदले बिना न रहेंगी ।

इसका अभिप्राय यह है कि मनमें थोडी भी अशुभ वृत्ति उत्पन्न हुई कि उसी समय उसकी विरोधी अच्छी भावना उत्पन्न करो। ऐसा अभ्यास निरंतर चालु रहने से हमारे मन में से खराब विचार उत्पन्न होने बन्द हो जावेंगे और चाहे जिस समय उत्तम विचारों का प्रवाह उत्पन्न करने का बल प्रगट होगा । इस बल से मन की वृत्तियों को वश में कर अनन्त शक्तियाँ प्रकट कर सकोंगे और विश्व में एक महान् पुरुष के रुप में ख्याति प्राप्तकर अनेक जीवों का आदर्श रुप होकर आत्म कल्याण कर सकोगे ।

मन की वृत्तियों के प्रवाह को बदलने की शक्ति प्राप्त करना ही कर्म ग्रंथ के सीखने और अभ्यास करने का रहस्य है । वृत्ति का प्रवाह बदलना आते ही गुणस्थान की भूमिकाएं बढ़ने का कार्य सरल हो जावेगा । मनुष्यों के विचार के प्रमाणानुसार ही मुख्यतया गुणस्थान की भूमिका होती है । यदि एक मनुष्य व्यवहार से साधु हो और उसके विचार क्षुद्र हों तो गुणस्थान नीचा ही होता हैं । तथा एक गृहस्थ होते हुए भी यदि उसके विचार उच्च भूमिकावाले हों तो उसका गुणस्थान उच्च प्रकार का होता है । विचार और व्यवहार के अनुसार ही गुणस्थान की भूमिकाओं का परिवर्तन हुआ करता है ।

सार प्रश्न

१. परिणाम किसे कहते हैं ?

२. आत्मा की अशुद्ध शक्ति क्या हैं ?

३. आत्मा के अशुद्ध विचार क्या हैं ?

४. अशुभ विचार क्या हैं ?

५. शुभ विचार क्या हैं ?

६. शुद्ध विचार क्या हैं ?

७. विचारों का फल क्या हैं ?

८. विचारों को कैसे बदलना चाहिये ?

९. कर्म ग्रंथ का रहस्य क्या हैं ?

पाठ १० - बन्धन-मुक्ति ।

अज्ञान दशा में आत्मा अपनी शक्ति का उपयोग राग-द्वेष के साथ करता है । इसीलिये आत्मा और कर्म के पुद्गलों का सम्बन्ध टिका रहता है । उन कारणों को दूर करने से कर्म पुद्गलों का सम्बन्ध छूट जाता है । इसी को कहते हैं कर्म बन्धन से मुक्ति ।

आत्मा जो पदार्थ है उसे उसी रुप में जानने का नाम मिथ्यात्व का विरोधी सम्यगदर्शन है । आत्मा नित्य है; सत्य है, पवित्र है, आनन्द स्वरुप है । इसको बराबर समझने से और प्रवृत्ति के सभी प्रसंगो में यह ज्ञान टिका रखने से, मिथ्यात्व से आनेवाले कर्म पुद्गल रुक जाते हैं । इस सत्य का प्रकाश जैसे जैसे प्रबल होता जाता है वैसे ही वैसे संसार की माया-संबधिनी इच्छाएं भी कम होती जाती हैं और जो इच्छाएं होती हैं वे अपने को और दूसरे को आनन्द देनेवाली होती हैं । ऐसा होने से अविरति नामक कर्म सम्बन्ध को टिका रखनेवाली दूसरी भावना से आनेवाले कर्म भी रुक जाते हैं ।

आत्मा की तरफ जैसे-जैसे प्रेम बढता जाता है वैसे-वैसे इच्छाएं भी आत्माभावनाओं को पोषण देनेवाली ही होती जाती हैं । इसलिये क्रोध, मान, माया और लोभ की प्रवृत्ति मन्द हो जाती है, क्योंकि पुद्गल प्राप्त करने की इच्छा के लिये ही क्रोधादि का उपयोग करना पडता है । उन इच्छाओं के रुकने से क्रोधादि की प्रवृत्तियां भी रुक जाती हैं ।

ऐसी अवस्था में मन, वचन, काया की प्रवृत्ति चाहे कितनी ही अधिक क्यों न हो, वह कषाय की प्रवृत्ति मन्द होने के कारण नीरस हो जाती है इसलिये उसमें कर्म पुदगलों को खेंचने का बल

कम हो जाता है जिससे आत्मा का कर्म पुदगलों के साथ सम्बन्ध बांधा हुआ होता है वह आत्म स्वरुप में स्थिरता करने से एवं वर्तमान काल में उसका अनुभव करने (भोग लेने) से सत्ता में रहे हुए कर्म भी कम होते जाते हैं । इतने विवेचन से यह निश्चय होता है कि मिथ्यात्ववाली अज्ञान दशा से आते हुए कर्म पुदगल सम्यग् दर्शन से रुकते हैं ।१। अविरति-इच्छाओं से आते हुए कर्म पुद्गल इच्छाओं का निरोध करने रुप विरति से रुक सकते हैं ।२। क्रोध, मान, माया, लोभ से आते हुए कर्म पुद्गल क्षमा, नम्रता, सरलता, और सन्तोष से रुकते हैं ।३। एवं मन, वचन शरीर से आते हुए कर्म पुद्ल मनातीत, वचनातीत, कायातीत, रुप आत्म स्वरुप में स्थिरता करने से रुकते हैं ।४।

आते हुए कर्मों को रोकने का नाम संवर है । पहले के सत्ता में रहे हुए कर्मों को शरीर आदि द्वारा भोग लेने और आत्मस्वरुप में स्थिरता करने से कर्मों के फल देने का स्वभाव को छिन्न कर देने को निर्जरा कहते हैं । इस तरह मेहनत करने से कर्म पुद्गलों का सम्बन्ध आत्मा से तोडा जा सकता है या अलग किया जा सकता है । देह में या भव में टिका रखनेवाले इन सब कर्मों का आत्म प्रदेशों के साथ जो सम्बन्ध है उनका सर्वथा छिन्न (अलग) हो जाना ही बन्धन मुक्ति या मोक्ष है ।

कर्मों के आवरण दूर होने से आत्मा की अनन्त शक्तियाँ प्रगट होती हैं । जब आंख के जरा से पर्दे के हट जाने से हम आंख से बहुत दूर तक देख सकते हैं तब आत्मा के तमाम प्रदेशों पर से इन शक्तियों को रोकनेवाले कर्म पुद्गल निकल (हट) जाने से यदि आत्मा की अनन्त शक्तियाँ प्रगट हो जावें तो इसमें आश्चर्य ही क्या हैं ?

इस तरह आत्मा के साथ पुद्गलों का सम्बन्ध टूट जाता है और उसको तोडने के लिये ही त्याग, वैराग्य, धर्म आदि की आवश्यकता महान पुरुषो ने स्वीकार की हैं ।

सार प्रश्न

१. बन्धन एवं मुक्ति क्या हैं ?

२. सम्यग् दर्शन किसे कहते हैं ?

३. मिथ्यात्व से आते हुए कर्म कैसे रुकते हैं ?

४. अविरति से आने वाले कर्म कैसे रुकते है ?

५. कषाय से आनेवाले कर्म कैसे रुकते हैं ?

६. मनादी योग से आनेवाले कर्म कैंसे रुकते हैं ?

७. संवर किसे कहते हैं ?

८. निर्जरा किसे कहते हैं ?

९. कर्मावरणों के दूर होने से कैसी शक्तियाँ प्रगट होती हैं ?

पाठ ११ - देहधारी आत्माएं ।

जीव और आत्मा ये दो नाम एक ही पदार्थ के हैं, चैतन्य शक्ति यह आत्मा का स्वरुप है । कर्म से बन्धी हुई आत्माएं बार बार देह धारण करती हैं । आत्मा के मूल स्वरुप में भेद होते ही नहीं हैं परन्तु शरीर की अपेक्षा से उसके अलग-अलग भेद कहलाते हैं । वह ही यहां समझाया जाता है । देह धारण करनेवाले जीवों को गति की अपेक्षा से चार भागो में बांटा गया है । उनके नाम हैं - देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नारकी ।

देवों में सामान्य मनुष्यों की अपेक्षा ज्ञान और शक्ति विशेष होती है । तीर्थंकर देव, सामान्य केवली, और अप्रमत्त दशावाले महात्माओं की अपेक्षा तो देवों में भी ज्ञान और शक्ति कम होती है । देवों के शरीर सुन्दर, निरोगी, मल व पसीने रहित और पवित्र पुद्गलों के बने हुए होते हैं । उनके शरीर में रुधिर, मांस, हाड, वगैरह नहीं होते । सुन्दर आकृति, तेजस्वी कांति, और महान प्रतापी भव्य दृश्य, उनके पवित्र पुण्य कर्मो का प्रत्यक्ष प्रमाण है । वे मनुष्यों की तरह भोजन नहीं करते, जब उनके खाने की इच्छा होती है तब वे मनमें संकल्प करते हैं । संकल्प होते ही उत्तम पुद्गल उनके शरीर में प्रवेश करते हैं, अमृतपान के समान डकार आते हैं इससे उनकी क्षुधा शांत हो जाती है और देह को पोषण मिलता है । मनुष्यों के समान देव गर्भ से पैदा नहीं होते । वे देवशय्या में (सोने लायक सुन्दर बिछौनेमें) उत्पन्न होते हैं । जन्म होते ही सौलह वर्ष की जवान उमरवाले के समान दिव्य रुप में दिखते हैं ।

देव बूढे नहीं होते, असमय में नहीं मरते, निरन्तर युवावस्था ही रहती है, छः महिने पहले उन्हें मृत्यु की खबर पड जाती है । उस समय उनके गले में जो पुष्पों की माला होती है वह मुर्झा जाती है, कल्प वृक्ष चलते दिखलाई देते है, कुछ विस्मृति होती है, मुख की कांति फीकी पडती है । देवों में जिन्हें आत्म मार्ग की जागृति होती है वे वहां भी परमात्मा के मार्ग की तरफ आगे बढते हैं । तीर्थंकर देव व दूसरे ज्ञानीयों के पास वे जाते है धर्म सुनते हैं, प्रभु-मार्ग में आगे बढनेवाले जीवों को मदद करते हैं । मन के संकल्प से कार्य सिद्ध करने की शक्ति उनमें होती है दुःखी को सुखी कर सकते हैं, ज्ञानी पुरुषों का समागम कराकर धर्ममार्ग में आगे बढा सकते हैं, धर्म की उन्नति कर सकते हैं, परन्तु जिस मनुष्य की वे सहायता करें उसकी उतनी तैयारी होनी चाहिये । देव निमित्त कारण बन सकते हैं और इसके द्वारा पुण्य उपार्जन कर, मनुष्य जन्म प्राप्तकर सरलता-सुगम से अपना मार्ग बना सकते हैं । देवों की मृत्यु को च्यवन कहते हैं । मृत्यु होते ही कपूर के समान उनके शरीर के पुद्गल बिखर जाते हैं । उसमें दुर्गन्ध नहीं होती है ।

मनुष्यों के समान देवों के भी स्त्रियां होती हैं । उन्हें देवी, देवांगना, अप्सरा आदि कहते हैं । कामवासना दोनो में होती है परन्तु स्त्री की तरह देवी गर्भ धारण नहीं करती । विशेष पुण्य बन्ध होने से जीव देवलोक में जन्म लेते हैं ।

देव चार भागों में विभक्त हैं । वैमानिक, भुवनपति, ज्योतिषी और व्यंतर । वैमानिक देव उत्तम दर्जे के होते हैं । वे तेजस्वी, विशेष शक्तिवाले, प्रभावशाली और प्रबल पुण्य प्रकृतिवाले होते

हैं । बारह देव लोक, नव ग्रैवेयक, पांच अनुत्तर विमान में उनकी बस्ती होती है । ये स्थान चन्द्र सूर्य से भी बहुत ऊँचे हैं और एक-एकसे विशेष आगे हैं । अनुत्तर विमान के देव अत्यंत पवित्र और शांतिमय जीवन बितानेवाले हैं; आत्मपरायण रहकर आनन्द में झूलते हैं, सदा ब्रह्मचारी होते है । दो देवलोक के आगे देवियों की उत्पत्ति नहीं है । (१)

ज्योतिषी देव पांच भागों में विभक्त हैं । सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारे । ये इन पांचों प्रकार के देवों के विमान हैं । उनमें वे रहते हैं । उन विमानों को हम देख सकते हैं । कई विमान चलते है और बहुत से स्थिर हैं । पृथ्वी विशाल है उसके बहुत से भागो में अनेक सूर्य और चन्द्रमा हैं । यह ज्योतिष चक्र इस दूसरे विभाग के पांच जाति के देवों से भरपूर हैं । (२)

भुवनपति और व्यंतर जाति के देव इस पृथ्वी के नीचे हैं उनके रहने की जगह को भुवन कहते हैं । व्यंतरों के रहने के स्थान उनसे ऊपर हैं । उनके रहने के स्थान को "नगरा" कहते हैं । यद्यपि उनके उत्पन्न होने और रहने के स्थान पृथ्वी के नीचे हैं परन्तु क्रीडा करने के स्थान इस पृथ्वी पर भी होते हैं । उनमें आयु सुख और शक्ति ऊपर के देवों की अपेक्षा कम होती हैं । नीचे के देवो में भूत, पिशाच, यक्ष, राक्षस, आदि का समावेश होता है । उनमें ज्ञान भी होता है । अज्ञान भी होता है । दुःख भी होता है । पूर्व पुण्य के उदय से वे पांच इन्द्रियों के अनुकूल सुख भोगते हैं, और पुण्य समाप्त होने पर वापस मनुष्यादि गति में आते हैं । (३, ४)

यह पुण्य प्रकृतिवाले देहधारी देवों के जीवों का वृत्तान्त हुआ ।

सार प्रश्न

१. देह कौन धारण करता हैं ?

२. आत्मा के भेद किससे पडते हैं ?

३. वैमानिक देव कहां होते हैं ?

४. ज्योतिषी देव कहां होते हैं ?

५. भवनपति देव कहां होते हैं ?

६. व्यंतर देव कहां होते हैं ?

पाठ १२ - मनुष्य तिर्यञ्चादि

यद्यपि मनुष्यों की, अलग-अलग देशों की अपेक्षा और वाणिज्य-व्यापार की अपेक्षा अनेक जातियां हैं । तथापि स्त्री, पुरुष और नपुंसक इन तीन विभागों में सारी मनुष्य जाति का समावेश हो जाता है । चारों गतियों में से जीव मनुष्य गति में जन्म ले सकता है । एक जगह की आयु पूर्णकर जीव जब दूसरी गति में जन्म लेने जाता है तब इस जन्म से तेजस् और कार्मण शरीर अपने साथ ले जाता है । अन्य दर्शनवाले इस शरीर को सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर कहते हैं । तेजस् शरीर आहार आदि को पचाता है । उसमें गरमी विशेष होती है । कार्मण शरीर में कर्म के ही संस्कार हैं । इस जिन्दगी में किये हुए कर्म के बीजभूत संस्कार दूसरे जन्म में साथ ही रहते है । इस शरीर की मदद से जीव जहां उत्पन्न होता है, वहां नया स्थूल शरीर बांधने का कार्य शुरु करता है । स्त्री पुरुष के संयोग से गर्भस्थान में जो रज और वीर्य गिरते हैं उनमें पहले जीव आता है और अपना आहार साथ लाये हुए शरीर द्वारा लेकर उसी से शरीर बांधना प्रारम्भ करता है । शरीर के बाद इन्द्रियों की शक्ति बांधता है, उसके बाद श्वासोश्वास लेने की शक्ति बांधता है, बाद में भाषा बोलने की शक्ति और अन्त में मन की शक्ति तैयार होती है । इन छः शक्तियों को छः पर्याप्तियाँ कहते हैं । इनमें से दस प्राण प्रगट होते है । पांच इन्द्रियां, मन बल, वचन बल, काय बल, श्वासोश्वास और आयु इन दस को प्राण कहते हैं । इन्हीं के आधार से जीव शरीर में रहता है और शरीर पुण्य पाप रुप प्रकृति के आधार से रहता है । इन दस

प्राणों को हानि पहुंचाने का नाम हिंसा है, क्योंकि इन पर जीव को ममता होने से उसको दुःख होता है । दस प्राणों के वियोग को मृत्यु कहते हैं । इस शरीर की उत्पत्ति रज और वीर्य में से होती है । जीव को पोषण अन्दर से ही मिलता है । गर्भ में से बाहर जन्म लेने के बाद दूध और अनाज पानी आदि से इस देह का पोषण होता है, देह बढता है, और इसी देह का जब अवसान हो जाता है इसे मौत कहते हैं उस समय यह परमाणु पीछे बिखर जाते हैं । परमाणुओं का बिखर जाना ही मौत है । आत्मा से प्राणों का जुदा हो जाना मौत है । तो भी देह को तथा प्राणों को उत्पन्न करनेवाला, प्राणों के रुप में परमाणुओं को जोडनेवाला आत्मा उनसे जुदा है । उसकी मृत्यु नहीं होती । वह तो इस स्थान को छोडकर, इस जन्म में किये हुए कर्मों के अनुसार दूसरी जगह जाता है, वहां देह धारण करता है और सुख दुःख का अनुभव करता है । फिर वहां अन्य जन्म के योग्य कर्म पर आयु का बन्ध कर दूसरी गति में जन्म लेता है । इस प्रकार आत्मा शुद्धस्वरुप के अनुभव बिना, अपने आपको पहचाने बिना, चारों गतियों में, विविध जातियों में जन्म धारण करता है ।

तिर्यंच गति के जीव ।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पाँच इन्द्रियवाले पशु-पक्षी सब जाति के जीवों को तिर्यंच कहते हैं ।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति ये पांच "स्थावर" कहलाते हैं और दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पांच इन्द्रिय

जीव त्रस कहलाते हैं । पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति में जीव है, उनमें ज्ञान और शक्ति बहुत ही कम होती है उनको एक शरीर (स्पर्श इन्द्रिय) ही होता है । वनस्पति के जीवों के अतिरिक्त दूसरे जीवों की आयुष्य कम होती है । वनस्पति में बडे वृक्षादि की आयु बडी होती है । दुःख विशेष होता है । परन्तु ज्ञान शक्ति की कमी के कारण विकासप्राप्त जीवन का अभाव होता है । इसलिये उन्हें दुःख का अनुभव कम होता है । मिट्टी, जल, वायु, उष्णता और वनस्पति ये उनके मुख्य आहार हैं । वनस्पति के जीव अपनी जडों द्वारा और बाहर की हवा आदि से खुराक लेकर अपना शरीर बढ़ाते हैं । इन प्रत्यक्ष दिखनेवाले एकेन्द्रिय जीवों से भी अधिक सूक्ष्म, नहीं दिखनेवाले पांच प्रकार के स्थावर सूक्ष्म जीव होते हैं वे इतने सूक्ष्म होते हैं कि पहाड को भेद कर और जलती हुई अग्नि की ज्वाला में से होकर चले जाते हैं तो भी उन्हें कोई रोकने में समर्थ नहीं है और वे जलते भी नहीं हैं । ये जीव निगोद के जीव कहलाते हैं । निगोद के जीव अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं और अन्य जीवों की अपेक्षा अधिक हैं । इन सबका समावेश स्थावर विभाग में होता है । इस निगोद में से निकलकर जीव ऊपर बढ़ता हुआ मनुष्यादि योनियां प्राप्त करता है । (१)

जिनके दो इन्द्रियाँ होती हैं वे दो इन्द्रिय कहलाता है । यहां इन्द्रियों की अपेक्षा जीवों के भेदों की गिनती की जाती है । इसमें एकेन्द्रिय जीव की अपेक्षा जीभ अधिक होती है । ये जीव प्रायः शंख, कोडी, सीप आदि में उत्पन्न होते हैं । इनके अलावा जौंक, अलसिया, पानी के पूरे, लकडी के कीडे, कृमि आदि भी दो इन्द्रिय जीव हैं । (२)

तीन इन्द्रिय जीवों में दो इन्द्रिय जीवों से नासिका इन्द्रिय अधिक होती है। कान खजूरा, खटमल, जूं, चींटी, दीमक, मकौडे, अनाज के कीडे, गोबर के कीडे, विष्टा के कीडे, कुंथुए, इन्द्रगोप आदि तीन इन्द्रिय जीव हैं। (३)

चार इन्द्रिय जीवों में आंखे अधिक होती हैं। बिच्छू, भंवरे, मक्खियां, डांस, मच्छर, टीडे, करोलिया, कंसारी आदि चार इन्द्रिय जीव हैं। (४)

पांच इन्द्रियोंवाले जीवों में चार इन्द्रिय की अपेक्षा कान इन्द्रिय अधिक होती है। ये जीव गर्भ से उत्पन्न होते है, और गर्भ बिना भी उत्पन्न होते है। इसलिये ये जीव गर्भज और समुर्च्छिम दो प्रकार के होते है। इनमें जमीन पर चलनेवाले पानी में रहनेवाले और आकाश में उडनेवाले सब पशु-पक्षी और मच्छादि का समावेश है। (५)

इन जीवों का जीवन विशेष रुप से पराधीन होता है। इनमें अज्ञान दशा अधिक होती है। पाप का उदय विशेष होता है। उनका जीवन धर्म करने के लिये प्रायः अयोग्य होता है। अन्य का जीवन पराधीन बनाने से अपना जीवन भी इस तरह पराधीन हो जाता है।

नारकी जीव।

नारकी के जीव इस पृथ्वी के नीचे पोले भाग में रहे हुए नरकावासो में उत्पन्न होते है। उनके उत्पन्न होने का स्थान चमडे के कुलड़े सा, संकडे मुंह का और चौडे पेट का होता है। उसे कुम्भी कहते हैं। वे नपुंसक वेदवाले होते हैं। स्त्री, पुरुष नारकी में होते ही नहीं। वहां काम वासना का उदय प्रबल होता है परन्तु

उतना ही वहां साधनों का सर्वथा अभाव होता है । उनमें से प्राय: जीवों को पिछले जन्म का ज्ञान होता है परन्तु वे उसका उपयोग पिछले जन्मों के कर्मों का पश्चाताप करने के सिवाय कुछ भी नहीं कर सकते सब जीवों के भाव पश्चाताप करने के भी नहीं होते । पूर्व जन्म के प्रबल पाप के उदय से इनका यहां जन्म होता है । प्रबल पापों को भोगने के लिये ही यह स्थान है, इनकी आयुष्य बहुत लम्बी होती है । दुःख भोगने के लिये ही इनका जन्म है । देवभूमि के सुख से सर्वथा विपरीत स्थिति नारकी के जीवों की एवं स्थान की है । इच्छा होने पर और प्राप्त करने के लिये चेष्टा करने पर भी खाने को नहीं मिलता । प्यास कम नहीं होती । वहां सर्दी इतनी अधिक होती है कि मध्य सियालें में हिमालय पर गिरने वाली सर्दी से लाखों गुनी सर्दी भी उसके किसी हिसाब में नहीं है । इसी तरह ग्रीष्म ऋतु के प्रखर ताप में खैर के अंगारों की भट्टी में नारकी के जीव को यदि सुलाया जावे तो शान्ति से सो जाय । सारांश यह है कि इस से भी वहां ताप अधिक है ।

इस नरक के सात विभाग हैं । पहले नरक से दूसरे में और दूसरे से तीसरे में ऐसे उत्तरोत्तर अधिकाधिक दुःख, भूख, प्यास, सर्दी, गरमी और परमाधामी देवों के त्रास हैं । परस्पर में भी वे पूर्व भव के बैर याद कर करके लडते हैं और मार खाते हैं । कर्म के तीव्र बन्धन से बंधे हुए वे जीव नरकायु पूर्ण करके वापिस मनुष्यादि गति में आते हैं ।

यह देहधारी जीवों के भेद बताये । ये भेद कर्मों की विविधता के कारण होते हैं । आत्मा तो सभी शरीरों मे वही का वही हौता है ।

सार प्रश्न

१. मनुष्य की उत्पत्ति कैसे होती हैं ?

२. प्राण किसे कहते हैं ?

३. मनुष्य के भेद किससे कहलाते हैं ?

४. दूसरे जन्म में साथ क्या जाता हैं ?

५. कार्मण शरीर किसका होता हैं ?

६. तेजस् शरीर क्या काम करता हैं ?

७. मौत किसे कहते हैं ?

८. तिर्यंच किसे कहते हैं ?

९. जीव कहां से उंचे चढता हैं ?

१०. स्थावर किसे कहते हैं ?

११. त्रस जीव कौनसे हैं ?

१२. नारकी जीव कहां रहते हैं ?

१३. नारीकी को कौन-सा वेद हैं ?

१४. नरक मे जीव क्यों जाते हैं ?

पाठ १३ - आत्मदृष्टि

हमारी आंख अपने शरीर को देखती है । परन्तु अन्तर नेत्रों द्वारा हम यदि शरीर के अन्दर रही हुई आत्म शक्ति को देखे तो वह आत्मदष्टि कहलाती है । अनेक जीवों की द्रष्टि और प्रवृत्ति की जांच करने से मालूम होगा की उनकी देह पर द्रष्टि है । इसलिये वे किसी भी मनुष्य या पशु को देखकर कहेंगे कि यह सफेद है, यह लाल है, यह मोटा है, यह पतला है, यह लम्बा है, यह छोटा है, अथवा कामी है, क्रोधी है, लोभी है, कपटी है, अभिमानी है, द्वेषी है, सन्तोषी है, वीतरागी है, वाचाल है, झूठा है, इत्यादि - इत्यादि । विचार करने से मालूम होगा कि ये सबमें से, कोई देह का धर्म है, कोई मन का धर्म है और कोई वचन का धर्म है । इनको वक्ता आत्मा में आरोप करके कहता है परन्तु वास्तव में तो शरीर, वचन और मन के धर्मो से परे जो आत्मा है उसे देखनेवाले जीव बहुत ही कम हैं ।

एक हृष्ट पुष्ट गाय को यदि चमार देखेगा तो उसकी द्रष्टि उसके चमडे पर पडेगी और वह कहेगा कि इस गाय का चमडा सुन्दर और मोटा हैं । यदि कोई कसाई देखेगा तो उसकी द्रष्टि गाय के मांस पर जायेगी और कहेगा कि इस गाय का मांस अच्छा और अधिक है, यदि कोई ग्वाला देखेगा तो कहेगा कि यह गाय बहुत दूध देनेवाली हैं, यदि कोई किसान देखेगा तो कहेगा कि गाय तो बहुत मजबूत है इसलिये इसके बछडे बहुत मजबूत बैल होंगे, यदि गौ-पूजक होगा तो वह उसे पूज्य समझ कर चरणों में गिरेगा, और यदि कोई तत्व दृष्टिवाला महात्मा उसे देखेगा तो उसके अन्दर रही हुई आत्मा की तरफ दृष्टि कर आत्मा की लीलामय

प्रवृत्तियों का विचार करेगा । इससे यह निश्चय होता है कि जीव की जैसी दृष्टि होगी वैसी ही सामनेवाली वस्तु उसे दिखेगी तथा वैसे ही हर्ष या शोक, राग या द्वेष उत्पन्न करने में निमित्त कारण होगी ।

अपनी अच्छी या बुरी दृष्टि से सामनेवाली वस्तु बदल नहीं जाती, परन्तु जिस समय जिस प्रकार की अपनी दृष्टि होती हैं उस समय सामने वाली वस्तु उस प्रकार के कर्म बन्धन में निमित्त कारण बनती है । देह दृष्टि वाले को अनन्त शक्तिशाली आत्मा भी देह रुप दिखलाई देती है तथा आत्म द्रष्टि वाले को देह सामने दिखलाई पडते हुए भी उसके अन्दर जो चैतन्य शक्ति की सत्ता से आत्म सत्ता का स्फुरणा हो रहा है, विलास हो रहा है, वह दिखलाई देता है । इसलिये हरेक मनुष्य को चाहिये कि वह देहदृष्टि का त्याग कर आत्मदृष्टि को विशेष रुप से जागृत करे । आत्मदृष्टि का विकास होने से उसका उपयोग सदा आत्माकार में परिणत होता है । निरंतर आत्म उपयोग में परिणत रहने की आदत से आत्मस्वरुप प्रगट होता है तथा निरंतर देह दृष्टि रखने से देह आकार उपयोग के परिणाम से राग-द्वेष की वृध्धि होती है, नवीन कर्म बन्ध होते है एवं आत्मा सदा देह के साथ बंधी रहती है ।

हम देह को देख सकते हैं परन्तु इसके अन्दर रही हुई आत्मा को कैसे देखा जाय यहां इसे हम एक दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं। यद्यपि यह एक कल्पित दष्टान्त है तथापि वस्तु स्थिति समझने योग्य हैं ।

एक मोटे और अन्धे काच का किला है । उसमें अनेक छोटे बारीक, जाली वाले छिद्र हैं । इनके सिवाय नव से दस बडे छिद्र भी हैं । यह किला काला, सफेद आदि अनेक रंगो का है।

इस काच के किले के अन्दर एक दूसरा छोटा लाल रंगका किला है । इसका रंग प्रायः लाल रंग से मिलता जुलता है । इस दूसरे किले के अन्दर कांच का एक तीसरा किल्ला है । यह किला भूल से यद्यपि सफेद है तथापि इतना अधिक मैला है कि वह लगभग काले रंग जैसा दिखलाई देता है ।

इस तीसरे किले के अन्दर एक दिपक है जिसका प्रकाश इतना प्रबल है कि उसके सामने बिजली, चन्द्रमा, सूर्य के प्रकाश की कोई गीनती नहीं हैं । उस दीपक का प्रकाश तीनो किलों को भेदकर बाहर आता है । यद्यपि किला काला है परन्त इस दिपक का प्रकाश इतना प्रबल है कि उसे भेद कर लाल किले में आता है तथा लाल किलें को भेदते हुए मोटे और अन्धे काच के किले को भी (यह प्रकाश) भेद डालता है । इस मोटे कांच के किले में भी छोटे छोटे छिद्र हैं उनके द्वारा बाहरके पदार्थ इस प्रकाश द्वारा विशेष स्पष्ट रुप में दिखलाई देते हैं ।

इतना छोटा दृष्टान्त अपने उपनय (कहनेके आशय) को विशेष स्पष्ट कर देता है । पहला अन्धे कांच का किला हम सब जीवोंका यह स्थूल - औदारिक शरीर है । इसमें छोटे छोटे बारीक जालीवाले छिद्र रोमांध्र हैं । इस स्पर्शना-इन्द्रिय द्वारा निकलते हुए प्रकाश की सहायता से सर्दी, गरमी, कोमल, खुरदरे आदि का बोध होता हैं ।

दूसरा किला तेजस शरीर है । यह प्रायः लाल रंग का है । इससे शरीर में पाचन क्रिया होती है, रक्त आदि की गति नियमित रुप से होती है । यह उष्ण (गरम) स्वभाव का है इसलिये उसे लाल रंग का कहा है । इसकी मदद से स्थूल शरीर में वृद्धि हानि होती है ।

तीसरा किला कार्मण शरीर है । उसे दूसरे लोग कारण शरीर भी कहते हैं । उसमें कर्म के सभी संस्कार रहते हैं । यद्यपि वह उज्जवल है तथापि कर्म संस्कारो की विशेषता के कारण काले रंग की कल्पना की गई है । उसकी मलीनता अथवा निर्मलता की अधिकता के कारण आत्मप्रकाश का दब जाना या प्रगट होना होता है, और इसी कारण से यह जीव दरिद्र अथवा महान् पुरुष गिना जाता है । इन तीनों किलों के अन्दर जो प्रकाशमय दीपक है वह आत्मा है । कार्मण शरीर विशेष निर्मल हो तो आत्मा प्रगट होता है तथा वह आत्मा महात्मा, अवतारी पुरुष, तीर्थङ्कर, ज्ञानी आदि की गिनती में गिना जाता है ।

तीनों शरीरों के अन्दर, तीनों शरीर को भेदकर जो प्रकाश रहा हुआ है, उस प्रकाश को एकाध बार देखना, अनुभव करना, आत्म-दर्शन है । उस प्रकाश का ज्ञान, आत्मज्ञान है । उस प्रकाश में स्थिर रहना सम्यक् चारित्र है । उस प्रकाश का सदा के लिये आवरण रहित हो जाना केवलज्ञान है । उस प्रकाश के पूर्ण प्रगट होने के पश्चात् इस प्रकाश स्वरुप आत्मा का देह से सदा के लिये अलग हो जाना मोक्ष है ।

इस दृष्टांत के रहस्य को समझ लेने से आप भली भांति समझ गये होंगे कि यह प्रकाश आत्मा है, हम स्वयं है तथा इन तीनों शरीरों से सर्वथा अलग है इसीका नाम आत्मदृष्टि है । बाह्य नेत्र देह को देखते हैं परन्तु जब अन्तर नेत्र इस देह को भेदकर अन्दर रहे हुए आत्मा को देखते हैं, प्रकाश को देखते हैं तथा देह का भान भूलने लगते हैं तब इस प्रकार बहुत समय के अभ्यास से देह का दिखना बन्ध होकर इसके अन्दर रहा हुआ आत्मा ही दिखाई देने लगता है ।

जिस प्रकार अपने सम्बन्ध में इस देह आत्मा का विवेक हुआ, भिन्न देखना प्रारम्भ किया, उसी प्रकार जो जो शरीर तुम्हारी दृष्टि के सामने आवें उनको देह रुप न देखते हुए उस देह की तरफ दृष्टि न करते हुए, उसके अन्दर रहे हुए आत्मप्रकाश को ही देखने की आदत डालना-इसे आत्मदृष्टि कहते है । इस जन्म में जो जीव इतना कार्य कर लेता है मोक्ष उससे जरा भी दूर नहीं रहता । आत्मा ही परमात्मा बन जाय । इस आत्मदृष्टि को जागृत करने के लिये निरन्तर अभ्यास करने की आवश्यकता है । इसीका नाम सम्यकदर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक् चारित्र है ।

सार प्रश्न

१. आत्मदष्टि किसे कहते हैं ?

२. देह द्रष्टि किसे कहना चाहिये ?

३. आत्मद्रष्टि से क्या लाभ हैं ?

४. देह द्रष्टि से क्या हानि हैं ?

५. देह के अन्दर आत्मा को कैसे देखा जाय ?

६. आत्मदर्शन किसे कहते हैं ?

७. आत्मज्ञान किसे कहते हैं ?

८. सम्यक् चारित्र का क्या अर्थ हैं ?

९. केवलज्ञान किसे कहते हैं ?

१०. मोक्ष क्या हैं ?

पाठ १४ - जड़ चैतन्य का विवेक

आत्मा ज्ञान गुणवाला है। प्रत्येक वस्तु को जानने की शक्ति आत्मा में है। ज्ञान से ही इन सब वस्तुओं को आत्मा जानता है। आत्मा में किसी भी प्रकार का रुप नहीं हैं। पुद्गल लाल, सफेद, काले, हरे, पीले इत्यादि रंगवाले हैं। आत्मा में किसी भी प्रकार की गंध नहीं है। पुद्गलों में सुगंध और दुर्गन्ध दोनों हैं। आत्मा में किसी भी प्रकार का रस नहीं हैं। पुद्गलो में खटा, तीखा, खारा, मीठा, कडवा आदि विविध प्रकार के रस हैं आत्मा में किसी भी प्रकार का स्पर्श नहीं हैं। पुद्गलों में हल्का, भारी, कोमल, खुरदरा, ठण्डा, गरम, रुखा, चिकना आदि स्पर्श है। आत्मा में शब्द नहीं हैं। पुद्गलों में अच्छा बुरा आदि अनेक प्रकार के शब्द हैं। आत्मा अदृश्य और अरुपी है। पुद्गल दृश्य एवं रुपी हैं। संक्षेप में यह है कि जिनमें शब्द, रुप, रस, गन्ध और स्पर्श होते हैं, वे पुद्गल हैं।

धर्मास्तिकाय में यद्यपि आत्मा के समान रुप नहीं हैं तथापि वह अजीव पदार्थ है। इसमें जीव और पुद्गलों को गति देने का गुण है। आत्मा का ज्ञान गुण है, इसलिये आत्मा धर्मास्तिकाय से अलग है। धर्मास्तिकाय में ज्ञान गुण नहीं है।

अधर्मास्तिकाय का गुण जीव और पुद्गलों को स्थिरता देने का है। आत्मा में ज्ञान गुण है इसलिये आत्मा अधर्मास्तिकाय से अलग है।

जीव और पुद्गलों को अवकाश-मार्ग देने का गुण आकाश का है। आत्मा में ज्ञान गुण है इसलिये आत्मा आकाश से अलग है।

काल में नया, पुराना करने का गुण है । आत्मा में ज्ञान गुण है इसलिये आत्मा काल से भी भिन्न है ।

पाँच इन्द्रियां, मन बल, वचन बल, काय बल, श्वासोश्वास, आयुष्य ये द्रव्य प्राण हैं । ये भी पुद्गल ही हैं । आत्मा, ज्ञान, शाश्वत आनन्द, शाश्वत जीवन तथा अनन्त शक्ति आदि भाव प्राणों वाला है इसलिये वह द्रव्य प्राणों से भी भिन्न है ।

पुण्य-पाप से आत्मा भिन्न है । सुख देनेवाले शुभ कर्म के पुद्गलों को पुण्य कहते हैं तथा दुःख देनेवाले अशुभ कर्म के पुद्गलों को पाप कहते हैं । आत्मा चैतन्य स्वभाव तथा आनन्द रुप होने के कारण पुण्य-पाप से भिन्न है ।

आश्रव और संवर से आत्मा अलग है । कर्मों का आना आश्रव तथा कर्म पुद्गलों को आते हुए रोकना संवर है । आत्मा ज्ञान स्वरुप है । आश्रव तथा संवर को जानने वाला है ।

निर्जरा आत्मा नहीं है । आत्मप्रदेशों से ज्ञानावरणादि कर्म पुद्गलों का कम ज्यादा प्रमाण में गिर पडना - दूर होना उसे निर्जरा कहते हैं । यह निर्जरा कर्म पुद्गलों की रुपांतर दशा मात्र है । वह आत्मा नहीं हैं ।

बन्ध भी आत्मा नहीं है । कर्म और आत्मा के संयोग का नाम बन्ध है । आत्मा ज्ञान स्वरुप है ।

सर्व कर्म पुद्गलों का आत्मा से अलग होना द्रव्य मोक्ष है वह आत्मा का लक्षण नहीं है । ज्ञान, दर्शन, चारित्र सहित आत्मा, वह भाव मोक्ष है । वही आत्मा है ।

आठों कर्मों की प्रकृतियाँ भी आत्मा नहीं हैं । आठों कर्मों से अलग ज्ञानादि अनंत शक्ति युक्त चैतन्य ही आत्मा है ।

इस प्रकार विचार करने से ज्ञात होता है कि जड और चैतन्य दोनों का स्वभाव अलग होने से ये दोनों भिन्न पदार्थ हैं । जड़, चैतन्य नहीं होता । चैतन्य, जड़ नहीं होता । जैसे हम पूर्व कह आये हैं उसी प्रकार दोनों द्रव्यों के स्वभावों को भिन्न भिन्न जानना तथा उसके अनुसार ही अनुभव करना, यह आत्मा की जागृत दशा है । आत्मज्ञान ही मोक्ष देनेवाला है । यही आत्मा को जानने की मुख्य अथवा पहली आवश्यकता है । जिसने आत्मा को जाना है उसने सब विश्व को जान लिया समझें तथा जिसने इस विश्व को जाना है उसने वास्तव में आत्मा को ही जाना है । हम स्वयं ही आत्मा हैं, यदि आत्मा अपने ही को न पहचाने तो फिर कर्म बन्धन से आत्मा को छुडाने की क्रिया किसके लिये करना ? किसके आधार पर करना ? यदि आत्मा को जाना है तो ही बन्ध, मोक्ष की तरफ निवृत्ति और प्रवृत्ति सम्भव हो सकती है । दूल्हे बिना बरात किस काम की ? वह कहां जाकर खडी रहे ? ऐसे ही ज्ञान बिना की क्रिया किस काम की ? किसके लिये करना ? इसलिये सब क्रियाँए करने के पहेले आत्मा को ज्ञान प्रथम अवश्य प्राप्त करना चाहिये ।

सार प्रश्न

१. आत्मा के गुण क्या हैं ?

२. जड के गुण क्या हैं ?

३. धर्मास्तिकाय का गुण क्या हैं ?

४. आकाश का गुण क्या हैं ?

५. काल का गुण क्या हैं ?

६. पुण्य किसे कहते हैं ?

७. पाप किसे कहते हैं ?

८. आश्रव किसे कहते हैं ?

९. संवर किसे कहते हैं ?

१०. बन्ध किसे कहते हैं ?

११. निर्जरा किसे कहते हैं ?

१२. द्रव्य मोक्ष क्या हैं ?

१३. भाव मोक्ष क्या हैं ?

१४. प्रथम किसे जानना चाहिये ?

पाठ - १५ प्रेम और परोपकार

किसी भी प्रकार के स्वार्थ बिना सर्वजीवों की तरफ समान दृष्टि रखकर उनकी भलाई के लिये सहायता करना, भलाई करना तथा परमात्मा के मार्ग की तरफ आगे बढना-यह प्रेम का लक्षण है । जहां स्वार्थ के लिए एक दूसरे की मदद की जाती है वहां प्रेम नहीं हैं । प्रेम सदा निःस्पृह भाव से देने को ही तत्पर रहता है उसमें बदले की आशा नहीं होती । जहां बदले की आशा होती है वहां प्रेम नहीं हैं । जिस पर हमने उपकार किया है वह हमारे उपकार को समझे, उसके लिये कृतज्ञ बने यह भावना जहां हो वहां भी यही समझना चाहिये कि प्रेम दूषित है । प्रेम की भावना से उपकार किया जाता है उसके लिये उपकृत मनुष्य यदि उम्रभर कृतज्ञता प्रकट न करे अथवा किसी भी प्रकार का बदला न दे तो भी प्रेमी के मन में किसी भी प्रकार का ख्याल नहीं आता। तथा किसी दूसरे के सामने भी तत्सम्बन्धी बदले की आशा के लिये अथवा उनकी कृतघ्नता के लिये बात तक भी नहीं करता। प्रेम में मत, जाति, सगासम्बन्धी, देशी, विदेशी आदि का भेद होता ही नहीं । प्रेमी सारे संसार को अपने निजी कुटुम्ब के समान प्रेम करता है, चाहता है, बंधु समझता है । शत्रु भाव का तो उसके हृदय में अभाव ही होता है । प्रेमी एक परमात्मा की ही प्रार्थना करता है । अपने दुःखों अथवा इच्छाओं सम्बन्धी बातें परमात्मा के सामने ही कहता है, प्रकृति (कुदरत) से जो प्रत्युत्तर मिलता है ननु नच किये बिना उसका स्वीकार करता है । प्रेम के सामने सिफारिश का काम नहीं हैं । अपने पराये का भेद प्रेमी के मन में कदापि नहीं होता । यदि हो तो वह प्रेमी ही नहीं है । प्रेमी

सदा मस्त रहता है । सदा निर्भय होता है । प्रेमी का मूल परमात्मा में होता है तथा उसका विस्तार विश्व के सर्व जीवो में वह प्रगट करता है । प्रेमी जैसा पवित्र पात्र मिलना दुर्लभ है प्रेमी सारे विश्व के जीवों को प्रेम से चाहता है, सबका भला करना इसका मुद्रा लेख होता है, स्वयं कष्ट सहन करके भी दूसरे का भला करता है । इसके ये कार्य कोई जाने, ऐसी कभी उसकी इच्छा नहीं होती, प्रेमी परमात्मा को पहचानने वाला होता है । परमात्मा की महान् शक्तियां उसके प्रेम गुण के कारण उसमें प्रगट होती हैं । आत्मा को जाने और अनुभव किये बिना प्रेमी नहीं बना जा सकता, परंतु परोपकारी तो बना जा सकता हैं । जिसने विश्वके साथ प्रेम बांधा है, जो सारे विश्व को अपनी आत्मा के समान जानता है वही वास्तविक प्रेमी महात्मा है ।

ऐसी प्रेम की शक्ति जहां तक प्रगट न हुई हो वहां तक मनुष्यों को परोपकारी जीवन व्यतित करना चाहिये । दूसरे का उपकार करना तथा प्रत्यक्ष रुप से उसके पास से बदले की आशा न रखना यह परोपकार का लक्षण है । परोपकार में भी ऊँचे प्रकार का आन्तरिक मान होता है । यद्यपि प्रेम की अपेक्षा से परोपकार का दर्जा कम है तथापि स्वार्थी जीवों की अपेक्षा से तो परोपकार का दर्जा बहुत ऊँचा है । परोपकारी मनुष्य अपने स्वार्थ की परवा तो नहीं करता किन्तु उसकी गहराई में उसका उत्तम परिणाम प्राप्त करने की सुन्दर आशा होती है, परन्तु परोपकारी जीवन उसको धीरे धीरे प्रेम की तरफ ले जाता है । यद्यपि परोपकारी में स्वयं किये हुए परोपकार द्वारा अपने भावी कल्याण की सुन्दर आशा होती है किन्तु वह चालु स्थिति में तो उत्तम ही गिनी जायेगी ।

अपना पेट तो कौए और कुत्ते भी भरते हैं । परन्तु दूसरे के दुःख को दूर करने में अपने जीवन का भोग देनेवाले अल्प ही होते हैं । महान् पुरुष कहते हैं कि तुम अपनी शक्ति के अनुसार दूसरों की सहायता करो, जिससे तुम्हें जब सहायता की आवश्यकता पडेगी उन्हें तुमसे अधिक शक्तिवाले पूरी करेंगे । तुम पूर्ण नहीं हो इसलिये इच्छाओं के बिना नहीं हो । इसलिये दूसरों की इच्छाओं अथवा आवश्यकताओं को तुम पूरी करो जिससे तुम्हारी इच्छाएं तथा आवश्यकताएं भी पूरी होंगी ।

मनुष्यों को यह विचार न करना चाहिये कि हमारे पास कुछ साधन या शक्ति नहीं है इसलिये दूसरे की किस प्रकार सहायता करें ? तुम्हारे पास जो साधन या जितनी शक्ति हो उसमें से थोडे से थोडा अंश भी तुम वास्तविक आवश्यकता वाले को दो । यदि तुम नये कुएं या तालाब न खुदवा सको अथवा पानी पीने की प्याउएं न लगवा सको मगर प्यासे को एक लोटा पानी तो पिला सकते हो । यदि तुम दानशाला नहीं बनवा सकते हो मगर अशक्त भूखे जीवों को ''रोटी''का टुकडा तो दे ही सकते हो । शायद तुम धर्मशालाएं नहीं बनवा सको परन्तु जाडे से कांपते या गरमी से व्याकुल अथवा वर्षा में भीगते कोई मनुष्य को सोने, बैठने अथवा खडा रहने को बरामदा तो दे ही सकते हो । कदाचित तुम रोगियों के लिये औषधालय न खुलवा सको परन्तु असहाय, साधन हीन, रोगग्रस्त पडोसी को दवा तो लाकर दे ही सकते हो। अथवा सूंठ, काली मिरच, पीपर, चिरायता या चूर्ण जैसी सामान्य वस्तु तो दे ही सकोगे । तुम यदि दूसरे मनुष्यों के दुःख दूर न भी कर सको तथापि मीठे शब्दों द्वारा .आश्वासन तो दे ही सकते

हो । दुःख निमग्न मनुष्य को शान्ति देने के लिये दिया हुआ आश्वासन भी आधा दुःख दूर कर सकता है । धर्म के लम्बे चौडे भाषण चाहे तुम न दे सको तथापि गुरु महाराज के पास में सुनी हुई धर्म सम्बन्धी बातें दूसरों को सुना तो सकते ही हो । मार्ग भूलों को यदि तुम उनके अभिष्ट स्थान तक न पहुंचा सको तथापि उस स्थान का रास्ता तो बता ही सकते हो ।

इस प्रकार छोटे-छोटे उपकार के काम करने की आदत रखने से आगे चलकर महान कार्य करने की शक्ति भी प्रगट हो जायेगी। यदि स्वयं परोपकार न कर सको तो जो परोपकार करने वाले हों उनके साथ इस दुखी जीव का मिलाप करवा देना चाहिये । जिसमें देने की शक्ति है उनको वास्तविक मदद लेने वाले नहीं मिलते और जिनको वास्तविक में मदद की जरुरत है उसे मदद करने वाला नहीं मिलता । इनका मिलाप करा देना यह भी परोपकार है ।

प्रत्येक मनुष्य को प्रातःकाल में उठकर एक ऐसा नियम अवश्य ही लेना चाहिये कि संपूर्ण दिन में परोपकार का कम से कम एक कार्य तो अवश्य ही करुंगा । ऐसा करने से परोपकार करने के बहुत अवसर तुम्हारे हाथ में आयेंगे । तथा प्रत्येक क्षण में तुम्हारी मनोवृत्तियां परोपकार करने की तरफ जागृत रहेंगी । परोपकारी जीवन व्यतित करनेवालों की तरफ महान पुरुषों का आशीर्वाद उतरे बिना नहीं रहता । उसका हृदय निर्मल तथा निराभिमानी बनता है । इसीलिए उसमें उच्चपद पाने की योग्यता प्रगट होती है । सत्ता में छुपी हुई आत्मा की अनन्त शक्तियां परोपकार करने से बाहर आ जाती हैं, अन्त में वह दुनिया के उद्धारक महान-पुरुषों की श्रेणी में आ जाता है । उस समय परोपकार के बदले

प्रेम के शांत झरने बहने लगते हैं, वह प्रेमी बनता है, अन्त में वह परमात्मा के साथ एक रुप बन जाने वाली अपनी आत्म शक्यिों को प्रगट करता है, परम शांति पाता है; यह सब परोपकारी तथा प्रेमी जीवन व्यतित करने का परिणाम है ।

सार प्रश्न

१. प्रेम किसे कहते हैं ?
२. प्रेम किस के अन्दर प्रगट होता हैं ?
३. प्रेम के अभाव मे क्या करना चाहिये ?
४. परोपकार किसे कहते हैं ?
५. परोपकार की अपेक्षा प्रेम क्यो अच्छा हैं ?
६. परोपकार करने से क्या लाभ होता हैं ?
७. मनुष्यों को किस प्रकार के विचार नहि करने चाहिये ?
८. सवेरे उठकर किस बात का नियम लेना चाहिये ?

पाठ १६ - तीर्थ यात्रा-स्थावर तीर्थ

जिसकी मदद से अथवा जिसके निमित्त से तैरा जाये उसे तीर्थ कहते हैं। आत्मा की अनन्त शक्तियों को प्रगट करने में सहायक साधन को तीर्थ कहते हैं। तीर्थ दो प्रकार के हैं। "स्थावर" और "जंगम" अथवा "द्रव्य तीर्थ" और "भाव तीर्थ"। जो स्थिर रहे उसे स्थावर तीर्थ कहते हैं। इस स्थावर तीर्थ में द्रव्य तीर्थ का समावेश है। अथवा इसी का एक प्रकार से दूसरा नाम है।

महान् तीर्थंकर देव आदि पुरुषों के जहां जन्म, दीक्षा, ज्ञान और निर्वाण हुए हो उस स्थान की भूमि को स्थावर तीर्थ कहते हैं। जिन जगहो में अनेक महापुरुषों ने तपश्चर्या की हो, ध्यान किया हो, आत्मा का पूर्ण ज्ञान प्रगट किया हो उन स्थानों का वातावरण बहुत ही पवित्र बना हुआ होता है। उस पृथ्वी को स्पर्श करने से हृदय में शांति प्रगट होती है। उस स्थान की बातें सुनकर हृदय में आनन्द होता है। उन महान् पुरुषों के जीवन चारित्रों को याद करने से अपूर्व शक्ति प्रगट होती है। उनके समान स्थिति प्रकट करने को मन उत्सुक होता है। जीवों में दूसरों का अनुकरण करने की आदत होती है, वह इस निमित्त से सफल हो जाती है। मन उनके समान बनने के लिये पुरुषार्थ करता है। इस पुरुषार्थ से मन में आश्चर्योत्पादक परिवर्तन हो जाता है। ऐसे पवित्र स्थलों में आकर उन महान पुरुषों के जीवन (चरित्रों) का स्मरण करने से मोह में फंसे हुए, परिग्रह में लिप्त और विषयों में डूबे हुए मनुष्य भी सच्चे वैरागी बन जाते हैं। तथा निर्मोही, निःस्पृह बनकर आत्मा की महान् शक्ति प्रगट करने का प्रयत्न करते हैं। ये सब तीर्थ

के निमित्त कारण से होता है, या होना संभव है । तीर्थयात्रा करने का हेतु इसके सिवाय और क्या हो सकता है ?

उपाधियों से परिपूर्ण व्यवहार में लिप्त गृहस्थों को समय निकालकर तीर्थयात्रा के लिये अवश्य जाना चाहिये । परन्तु तीर्थयात्रा जाने के हेतु को लेशमात्र भी भूलना नहीं चाहिये । पवित्र होने, शान्ति प्राप्त करने तथा आत्मज्ञान में वृद्धि करने के लिये ही तीर्थों में जाना चाहिये । मौज-शौक करने या पांच-सात मित्र मिलकर दावत करने जाना यह कोई तीर्थ जाने का उद्देश्य नहीं है । तीर्थ में जाकर जीतना भी बन पडे तपस्या करना, ब्रह्मचर्य पालना, परमात्मा के नाम का जाप करना, दान देना, पूजा करना, ध्यान करना, गुरु आदि का समागम कर उनसे अपना कर्तव्य जानना, और तत्त्वज्ञान प्राप्त करना चाहिये । जितने दिन तीर्थ में रहें उतने दिन उपर्युक्त प्रकार से व्यवहार करना चाहिये, तथा घर आकर भी नियमित रुप से उस तत्त्वज्ञान आदि का मनन, चिंतन, आदर करना चाहिये ।

तीर्थ आदि में जाकर लड्डू आदि गरिष्ट भोजन नहिं खाने चाहियें । वहां अनेक मनुष्यों का समागम होता हैं, उस समागम में अच्छी-बुरी बातें भी सुनने में आती हैं । इसलिये जहां तक बन पडे किसी की अच्छी-बुरी बातें सुनकर उसकी निन्दा स्तुति नहीं करनी चाहिये । विशेष सोना भी नहि चाहिये । आलस्य या प्रमाद में व्यर्थ समय नहीं खोना चाहिये । तीर्थभूमि में जाकर सत्पुरुषों का समागम करना चाहिये । सत् का अर्थ आत्मा है अथवा सत् का अर्थ आत्म श्रद्धा है । ऐसे आत्मश्रद्धावाले मनुष्यों की संगति करनी चाहिये । गुरु-आदि के पास ज्ञान ध्यान का विचार

करना चाहिये । एकांत स्थान में बैठकर परमात्मा के नाम का जाप करना चाहिये । शांत स्थान में परमात्मा का ध्यान करना चाहिये ।

तीर्थ भूमि कोई ज्वलंत ज्ञानमूर्ति जीवित प्रभु नहीं है परन्तु वह एक पवित्र भूमि है । वहां जाकर इस भूमि के उत्तम निमित्त द्वारा हम लाभ प्राप्त कर सकते हैं । वह लाभ तो अपने हृदय में प्रगट करने का है इसलिये प्रथम हृदय को जागृत करना चाहिये । इस तीर्थस्थान में रहकर जिन महान् पुरुषों ने ज्ञान, ध्यान, तपश्चर्या, शुद्ध संयम आदि का आराधन किया है उनके उच्च और पवित्र जीवन को याद करने से हृदय जागृत होता है । उन महान् पुरुषों के जीवन-चरित्र को स्मरण करने से अपना हृदय उत्तेजित होता है तथा उसके अनुसार आचरण करने से पूर्णतया तीर्थ-यात्रा का हमें लाभ मिलता है ।

सार प्रश्न

१. तीर्थ किसको कहना चाहिये ?

२. तीर्थ के कितने भेद हैं ?

३. तीर्थ में जाकर क्या करना चाहिये ?

४. तीर्थ मे जानेका क्या हेतु हैं ?

५. तीर्थ भूमि क्या हैं ?

६. लाभ कहां से प्रगट होता हैं ?

पाठ १७ - तीर्थ यात्रा-जङ्गम तीर्थ

जंगम तीर्थ अर्थात् हिलता, चलता, बोलता तीर्थ । इस तीर्थ में तीर्थंकर देव से लेकर सामान्य गुरु-साधु वर्ग का समावेश होता है । यह तीर्थ चलता फिरता कल्पवृक्ष है । कल्पवृक्ष तो उस के पास जाने वालों को ही फल दे सकता है । ये साक्षात् जंगम कल्पवृक्ष तुल्य ज्ञानी पुरुष उनके पास आने वालों को तो फल देते ही है मगर जो उनसे दूर रहने वाले हैं उनके पास गांव-गांव और नगर-नगर में जा जाकर उन्हें जागृत करते हैं और इस हद तक लाभ पहुंचाते हैं कि जिससे जन्म-मरण से छूटकर परमशांति प्राप्त हों सकती है । कल्पवृक्ष तो इस लोक में सुख प्राप्त हो, मात्र ऐसा ही फल देता है । इसलिये कल्पवृक्ष से भी जंगम तीर्थ अधिक बढकर है ।

मनुष्यों को प्रायः आत्म लक्ष्यवाले और आत्मजागृति वाले तथा संयम मार्ग में विशेष गतिवाले गुरुओं का समागम होना कठिन है । इस प्रकार की आत्म जागृति विना के नामधारी जंगम तीर्थ रुप यति-साधुओं से आत्मस्वरुप का लाभ नहीं मिल सकता । जंगम तीर्थ स्वरुप महान गुरु निःस्पृह होते हैं; निर्लोभी होते है; स्व पर का कल्याण करना उनका लक्ष्य होता है, वे दुनियादारी के झगडों में नहीं पडते, इन्द्रियों का दमन करते हैं, मन को वश में रखते है, ज्ञान ध्यान में सदा तत्पर रहते हैं । दया के तो वे भण्डार ही होते हैं, उन्हें क्षमा में समुद्र के साथ तुलना दी जा सकती है, सरलता में मानो कि वे आनन्दी छोटे बच्चे ही होते हैं । अभिमान तो उनके पास भी नहीं खटकता । भगवान् महावीर से अज्ञानी लोग पूछते हैं कि 'आप कौन हैं' ? तो आप उत्तर

देते कि 'मैं भिक्षु हूं' । ऐसी महान् शक्ति के होते हुए भी जो अभिमान रहित होते है वही महान् पुरुष कहलाते हैं । वे सदा परमात्मा के मार्ग में चलनेवाले होते हैं ।

ऐसे जंगम तीर्थ के पास जाना चाहिये । जब कभी तीर्थ-स्थान में जाने का अवसर मिले तब पहले ऐसे ज्ञानियों की खोज करनी चाहिये । खासतौर से भी ऐसे गुरुओं के दर्शनार्थ जाना चाहिये । क्योंकि ये जंगम तीर्थ रुप होने से इनके दर्शनार्थ जाना भी यात्रा है । यह जंगम तीर्थ जीता जागता होने के कारण प्रश्नों का उत्तर देकर हमारे संशयों को दूर करनेवाला है, सन्मार्ग बतानेवाला है क्योंकि आत्मज्ञान के मार्ग में चलनेवाला है । परमात्मा का मार्ग इसने थोडे बहुत अंशो में देखा हुआ होता है । जिसने स्वयं मार्ग देखा हो वही दूसरे को मार्ग बता सकता है । दीपक से ही दीपक जलता है । तीर्थभूमि में इनके दर्शन हों तो वहां रहे तब तक उनका समागम करते रहना चाहिये । यदि वहां न हों तो जिस स्थान में ऐसे पुरुष हों वहां जाना चाहिये। उनके पास जाकर अपना कल्याण कैसे हो इस विषय की चर्चा करनी चाहिये । आवश्यकीय प्रश्न पूछने के बाद इनका अमूल्य समय व्यर्थ में नष्ट नहि करना चाहिये । उनके कहे अनुसार हमें अपने कार्य में लग जाना चाहिये तथा उन्हें उनका कार्य करने देना चाहिये । उनका समय व्यर्थ में नष्ट करने से उनको आगे बढ़ने में बाधा पडती है । जिससे उन्हें और समाज को हम हानि पहुंचाने का कारण बनते हैं । उनके पास जाकर व्यवहारिक झगडों की, किसी को हानि पहुंचाने की, या निन्दा चुगली की बातें नहिं करनी चाहिये । उनसे केवल धर्म की ही बातें पूछनी चाहिये । वे भी ऐसी हों जिनका सम्बन्ध खास

आत्मा के साथ हो और जिन्हे हम आचरण में ला सकते हों । पूछ लेने के बाद तत्काल ही वहां से हट जाना चाहिये । उनके संयम के लिये किसी पदार्थ की आवश्यकता हो तो उसे पूरी कर देनी चाहिये । यह गृहस्थ का उत्तम कर्तव्य है । ऐसा करने से दोनों को लाभ होता है । अनुकूल सामग्री की सहायता से वे आगे बढ़ते हैं और स्वयं आगे बढकर अपनी शक्ति दुनिया को उन्नत बनाने में लगाते हैं । संसार को आत्मोपदेश देकर अपना बल खर्च करते हैं ।

ये महात्मा साक्षात् तीर्थ स्वरुप है । इनके उपदेश से जीव तैरते हैं । वे प्रभु के मार्ग में चलनेवाले हैं । यही सच्चा मार्ग बता सकते हैं ।

इस जंगम तीर्थ में तीर्थंकर देवों, गणधरों, आचार्यों, मुनियों तथा साध्वियों का समावेश होता है । स्थावर तीर्थ में तीर्थकरों की जन्म भूमियों, दीक्षा के स्थानों, केवलज्ञान उत्पत्ति के स्थानों तथा निर्वाण प्राप्ति के स्थानों का मुख्यतया समावेश होता है । इस स्थावर तीर्थ में तीर्थकरों के निर्वाण स्थान अष्टापद पर्वत, समेतशिखरजी का पहाड, गिरनारजी का पहाड, पावापुरी तथा चंपापुरी हैं । इनके सिवाय तीर्थंकर देवों के चरणरज से पवित्र हुई भूमियां तथा सामान्य मुनियों के ज्ञान, ध्यान और निर्वाण के स्थान भी तीर्थ रुप गिने जाते हैं । इसमें सिद्धाचलजी का पहाड, तालध्वज गिरि, हस्तगिरि, आबु गिरि, तारंगाजी वगैरह का समावेश होता है । ये दोनों, स्थावर व जंगम तीर्थ जीवों को उपकारी हैं। स्थावर तीर्थ से भी जंगम तीर्थ विशेष उपकारी है । जहाँ जैसी सुविधा हो वहां उसका लाभ लेने से चूकना नहीं चाहिये ।

सार प्रश्न

१. जंगम तीर्थ किसे कहते हैं ?

२. जंगम तीर्थ से कैसे लाभ होता हैं ?

३. जंगम तीर्थ की किसलिये जरुरत हैं ?

४. जंगम तीर्थ के पास जाकर क्या करना चाहिये ?

५. जंगम तीर्थ में किनका समावेश होता हैं ?

६. स्थावर तीर्थ कहां कहां हैं ?

७. दोनो तीर्थो में हमें विशेष उपकारी कौन हैं ?

पाठ - १८ आदर्श जीवन-त्यागमार्ग

दर्पण के समान निर्मल, बगैर धब्बों का पवित्र जीवन आदर्श जीवन कहलाता है । ऐसे पवित्र जीवन अनुकरण करने के योग्य होते हैं । कारीगर जिस प्रकार सर्वोत्तम वस्तु को अपने सामने रखकर उस पर से वैसी ही उत्तम वस्तु तैयार करता है, उसी प्रकार मनुष्य को चाहिये कि महान् पुरुषों के जीवन को सामने रखकर उनके समान पवित्र होने के लिये प्रयत्न करे । आदर्श जीवन का अपने लिये यही उपयोग है ।

परमात्मा के पूर्ण स्वरुप में पहुंचने के लिये दो मार्ग है । एक मार्ग निकट का है परन्तु वह बहुत विकट है, दुर्गम है । दूसरा मार्ग सरल है मगर वह बहुत ही लम्बा है । यह निकट का मार्ग आदर्श पुरुषों द्वारा सेवन किया हुआ त्याग मार्ग है । दूर का मार्ग वह गृहस्थ धर्म है । त्याग मार्ग का अर्थ यह होता है कि आत्म भाव में जागृत होकर बाहर के पदार्थों में व्याप्त आत्म शक्ति को एक स्थान में एकत्रित करना । अर्थात् आत्मा का आत्मा के सिवाय सर्व पदार्थों का त्यागकर अपने ही आप में स्थिर होना । यह मार्ग बहुत ही नजदीक का है । विकट इसलिये कहा जाता है कि इस मार्ग में सर्वस्व का त्याग करना पडता है । सब वस्तुओं पर से अपना स्वामित्व हटा लेना पडता है । लम्बे समय के संस्कारों के कारण ऐसा करना जीव को कठिन पडता है ।

इस त्याग मांर्ग में चलनेवाले जीव की प्रत्येक प्रवृत्ति आत्माभिमुख होनेवाली ही होती है । प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति के प्रत्येक प्रसंग में आत्म जागृति का ही नांद सुनाई देता है । जीवन

के प्रत्येक भाग में आत्मा का ही यशोगान होता है । शारीरिक धर्म को सहायता करनेवाली प्रवृत्तिवाला जीवन भी आत्मलक्ष्य के रंग में रंगा हुआ होता है। शारीरिक भोग के साधनों में भी आत्मभोग की ही सुगन्ध महकती होती है ।

परमात्मा के मार्ग का प्रवासी आत्मा अपनी इन्द्रियों का पोषण करने के लिये दूसरे के प्राणों का नाश नहीं करता । उसको किसी के साथ वैर विरोध नहीं होता है। विश्व की आत्माओं को वह अपने समान ही समझता है। सब देहों में वह सत्तागत परमात्मा को ही देखता है। वह सदा सत्य बोलता है। कोई भी वस्तु को मालिक की आज्ञा से ही लेता हैं। सदा ब्रह्मचर्य व्रत का द्रढ़ पालन करता है। मन के विकारों को वह अपने वश में रखता है। कोई भी बाहर की वस्तु में उसकी माया ममता का स्थान नहीं होती। अपराध करनेवाले को भी वह क्षमा कर देता हैं। अपने पास क्रोध को फटकने तक नहीं देता । दूसरे के कष्टों को भी अपनी शक्ति से शांत करता है। अहंकार को तो वह अवकाश ही नहीं देता । सम्मान करनेवाले अथवा अपमान करनेवाले इन दोनों में समद्रष्टि रखता है । इस के मन में निंदा करनेवाला और स्तुति करनेवाले दोनों बराबर हैं। सोना तथा पत्थर दोनों उसकी दृष्टि में समान हैं। वह स्वभाव से ही निर्दोष और सरल होता है । छल-प्रपंच को समझता तो बराबर है परन्तु उसका उपयोग कभी नहीं करता । जो वस्तु जिस समय मिल जावे फिर चाहे वह इष्ट हो या अनिष्ट, उसी में संतोष रखता है। भविष्य की चिन्ता कर वह किसी भी प्रकार का संग्रह नहीं करता । उसे परमात्मा पर और अपने भाग्य पर पूर्ण श्रद्धा होती है। इसलिये जो कुछ भी मिल जावे उसे आनन्दपूर्वक स्वीकार करता है । अपने पास की

कीमती से कीमती चीज भी वास्तविक आवश्यकता वाले को देने में जरा भी नहीं हिचकिचाता । उसमें प्रेम होता है परंतु राग नहीं होता । सर्व जीवों का कल्याण चाहता है परन्तु द्वेष नहीं करता । उसका कोई अपराध करता है तो उपेक्षा कर देता है परन्तु कलह नहीं बढ़ाता । किसी को झूठा कलंक नहीं देता । परन्तु गुणों की प्रशंसा करता है । किसी की निन्दा, चुगली नहीं करता परन्तु वह गुणानुरागी होता है । सुख दुःख में हर्ष शोक नहीं करता । धर्म कथा करता है । विकथा का त्याग करता है । किसी पर तपता (नाराज) नहीं, परन्तु तपश्चर्या अवश्य करता है । शरीर आदि की सुश्रुषा नहीं करता परन्तु मनादि को पवित्र रखता है । सर्व जीवों से प्रेम करता है । यथायोग्य विनय करता है । चलते, फिरते, उठते, बैठते, सोते-जागते किसी भी समय किसी भी जीव को उसकी तरफ से कष्ट न पहुँचे इस बात की सावधानी रखता है । किसी को अप्रीति या दुःख हो ऐसी भाषा नहीं बोलता । अभिमान से किसी का तिरस्कार नहीं करता । शरीर के पोषण के लिये निर्दोष आहार तो लेता है परन्तु शरीर पर ममत्व भाव नहीं रखता । देह, इन्द्रियाँ आदि का दमन अवश्य करता है, परन्तु उन पर द्वेष नहीं करता । मन में बुरे विचार नहीं उठने देता परन्तु अच्छे अच्छे विचार आत्म जागृति पूर्वक करता है । आवश्यकता पडने पर मौन रहता है तथा मन के संकल्पों को आत्म उपयोग से शांत करता है । मन को निर्विचार स्थिति में लाकर आत्म उपयोग में स्थिरता करता है । ध्यान भी करता है और मन को स्थिर भी रखता हैं । आहार थोडा लेता है और विशेष जागृति रखता है । कम सोता है और अधिक जागता है । मनुष्यों के साथ मात्र उनके भले के लिये ही परिचय करता हैं । उपदेश दे तो भी दूसरों के कल्याण के लिये ही ।

एकान्त वास करे तो मात्र आत्मा के लाभ ही के लिये प्रतिक्षण संसार का विस्मरण तथा आत्म उपयोग की जागृति रखता है । सबको प्रेम से मिलता है परन्तु गर्व से अलहदा नहीं रहता । अशुद्ध तथा अशुभ को तोडने की प्रवृत्ति करता है तथा शुद्ध को प्राप्त करने के लिये निवृत्ति भी करता है । अन्य को आत्म जागृति कराने में पुरुषार्थ करता है तथा अपनी आत्मस्थिति टिकाए रखने के लिए निवृत्ति भी करता है । शुभाशुभ मल दूर करने की प्रवृत्ति करता हैं ।

प्रभु मार्ग के पथिक साधु साध्वियों का जीवन इस प्रकार का आदर्शमय होता है । परमात्मा के साथ एकता करने के लिए जितना यह मार्ग बहुत समीप का है वैसे विकट भी इतना ही है । क्योंकि दुनिया में प्रवृत्ति करानेवाली तथा इसी में ही टीका रखनेवाली अहम्मन्यता होती हैं । इसका इस मार्ग में नाश करना पडता है, इसलिये अपना जीवन परमात्मा के या ज्ञानी गुरु के अधीन करना पडता है । उनकी पराधीनता स्वीकार करनी पडती है । इस जीव को - अहम्मन्यता छोडना तथा गुरुआदि की पराधीनता स्वीकार करना बहुत ही कठिन मालूम होता है । वासना से परिपूर्ण जीवन ऐसा करना नहीं चाहता । मगर जिन जीवों को परम शांति की चाह है उन्हें तो हर सूरत में यह आदर्श जीवन ग्रहण करना ही चाहिये । उनके लिये दूसरा कोई उपाय ही नहीं हैं ।

पाठ - १९ गृहस्थों का कर्त्तव्य

यह मार्ग आदर्श जीवन वाले त्याग मार्ग की अपेक्षा यद्यपि सरल है परन्तु यह इतना लम्बा है कि अपने नियत स्थान पर पहुंचने में बहुत समय लगता है । बाल जीव इस मार्ग से धीरे धीरे चलते हैं । यहाँ बाल जीवों का अर्थ छोटे बालक नहीं हैं, परन्तु थोडे ज्ञानवाले, थोडी शक्तिवाले, इस मार्ग में थोडा पुरुषार्थ करनेवाले तथा कर्म के विशेष बोझवाले समझना चाहिये ।

जिन जीवों को दुन्वयी ज्ञान चाहे कितना भी उच्च कोटि का क्यों न हो, परन्तु आत्मा सम्बन्धी विशेष ज्ञान न हो, शारीरिक शक्ति विशेष होते हुए भी परमात्मा के मार्ग में विशेष उपयोग न हो तथा विविध प्रकार की आशाएं, इच्छाएं, तृष्णाएं विशेष हों, उन्हें बाल जीव समझना चाहिये । इन जीवों को परमात्मा पर थोडी प्रीति तो होती है । परमात्मा के मार्ग में चलने के लिये थोडा बहुत प्रयत्न भी करते रहते हैं । इस अपेक्षा से शास्त्रों में इन्हें बाल पंडित भी कहा है । इन जीवों के धार्मिक जीवन को देश संयम भी कहते हैं क्योंकि ये संसारिक आश्रव वाला जीवन व्यतित करने के साथ साथ प्रभु के मार्ग में चलने की इच्छावाले तथा प्रवृत्ति करनेवाले होते हैं ।

इन देशविरति गृहस्थों का यह कर्तव्य है कि वे रात्रि का पिछला एक प्रहर अथवा कम से कम दो घडी बाकी रहे उस समय उठें। निद्रा जब दूर हो जाय तब तुरंत ही पंचपरमेष्ठी मंत्र-नवकार मंत्र का स्मरण करें । उस समय दूसरे किसी भी प्रकार के विचार मन में प्रवेश न करने पावें इस बात की पूरी पूरी सावधानी रखें । नाक के दाहिने या बाएं जिस नथने में से पवन-श्वास चलता हो बिस्तरे

में से नीचे उतरते समय उस तरफ का पग प्रथम नीचे रखें । यदि दोनों नथनों में स्वर एक साथ चलता हो तो बिस्तरे मे ही बैठकर परमात्मा का स्मरण करें । परन्तु उस समय किसी दूसरे कार्य में न लगें । यदि लगेंगे तो उस कार्य में अवश्यमेव हानि होगी । जब श्वास अन्दर की तरफ जाता हो उसी समय विस्तर से पैर नीचे रखना चाहिये । अथवा किसी भी कार्य के प्रारम्भ करते समय ऐसा ही करना चाहिये । यह क्रिया उस दिन के लिये तथा किसी भी कार्य की सिद्धि करने में उपयोगी और सुखदाई हैं ।

फिर रात के कपडे बदलकर शरीर अशुद्ध हो तो उसे शुद्ध करके पवित्र स्थान में बैठकर नमस्कार मंत्र का स्मरण-जाप करना चाहिये । अपने घर के अन्दर एक कमरे जैसा पवित्र स्थान धर्म कार्य के लिये अलग होना चाहिये तथा प्रत्येक धर्म कार्य उस स्थान पर बैठकर करने चाहिये । सामायिक अर्थात् दो घडी (४८ मिनिट) तक समभाव में बैठने की प्रतिज्ञा करके ध्यान करना । ध्यान न बन पडे तो परमात्मा के नाम का जाप करना । बाद में, ग्रहण किये हुए व्रतों में यदि किसी भी प्रकार का दोष लगा हो अथवा रात्रि को कोई दोष लगा हो तो शुद्धि के लिये और दोष निवारण करने के लिये प्रतिक्रमण करना चाहिये फिर अपने पूर्वजों को जो कि अपनी जिन्दगीं को उत्तम प्रकार से व्यतित कर गये हों, स्मरण करना चाहिये । उनके उत्तम जीवन के साथ अपने जीवन की तुलना करते हुए अपनी भूलों, त्रुटियों को दूर करना चाहिये । उनके उत्तम जीवन को याद करके अपने चालू जीवन को विशेष उत्साहित करना चाहिये । उत्तम विचार करना चाहिये । मैं कौन हूं ? मेरा कर्तव्य क्या है ? मैंने क्या किया है ? मुझे क्या करना अभी बाकी है ? इत्यादि प्रश्न स्वयं ही अपने आपको पूछने चाहिये । दुर्बलता को छोडकर किसी भी दुर्गण

को, तथा देशवासी बन्धुओं तथा बहनों को क्रमशः हरेक प्रकार की सहायता करनी चाहिये ।

गृहस्थ को चाहिये कि वह तीन संध्या, देव पूजन, गुरुवन्दन तथा दोनों समय प्रतिक्रमण करे। मादक और विकारोत्पादक आहार न लेवे । साधु-संत की सेवा करे । विशेष रुप से उनकी संगति करे, बारह व्रत ग्रहण करे। और जीवन की समाप्ति के समय अन्त समय की आराधना कर परमात्मा का स्मरण करते हुए इस क्षणभंगुर देह का त्याग करे। यदि सत्य को समझा हो, उत्साह विशेष जागृत हुआ हो एवं शक्ति तथा आयुष्य बाकी हो तो संसार मार्ग को वैराग्य बल से त्यागकर साधु-जीवन स्वीकार करे ।

सार प्रश्न

१. बाल जीव किसे कहना चाहिए ?
२. देश संयम किसे कहते हैं ?
३. गृहस्थों का कर्तव्य क्या हैं ?
४. बिस्तरे से नीचे उतरते समय क्या करना चाहिये ?
५. प्रतिक्रमण क्यों करना चाहिये ?
६. पूर्वजों का स्मरण क्यों करना चाहिये ?
७. धन कैंसे पैदा करना चाहिये ?
८. घर में देव मंदिर किस लिये रखना चाहिये ?
९. घर के पास उपाश्रय क्यों रखना चाहिये ?
१०. दान किस क्रम से करना चाहिये ?
११. अन्तिम समय में क्या करना चाहिये ?

पाठ २० - गृहस्थ धर्म-बारह व्रत

ऐसे व्रत गृहस्थों को अवश्य लेने चाहिये कि जिनसे इच्छाओं का पाप का निरोध होता है। क्योंकि उत्तम प्रकार का जीवन बनाने के लिये पाप आने के मार्गों को रोकने की प्रथम आवश्यकता है। यदि सर्वथा पाप के मार्ग न छूट सकते हों तो जितने अंशों में छूट सकते हों उतने अंशो में छोडना ही चाहिये। इसके लिये श्रावक के बारह व्रत ग्रहण करना चाहिये, यदि बारह व्रत न लिये जा सकते हों तो स्व इच्छानुसार एक, दो, चार, दस जितने व्रत लिये जा सकें उतने ही लेवें। यदि जीवन पर्यन्त व्रत न लिये जा सकते हों तो वर्ष, महिने, कुछ दिनों तक भी व्रत अवश्य ही लेने चाहिये। इसको देश विरति कहते हैं।

श्रावक के बारह व्रतों को ही गृहस्थ धर्म कहते हैं। इस धर्म का पालन करनेवाले पुरुषों को 'श्रावक' तथा स्त्रियों को 'श्राविका' कहते हैं। गृहस्थ श्रावक के बारह व्रत इस प्रकार हैं।

१-प्रथम स्थूल अहिंसा व्रत है। गृहस्थों से सूक्ष्म हिंसा का त्याग शक्य नहीं है इसलिये उन्हें स्थूल अर्थात् मोटी मोटी हिंसा के त्याग का व्रत ग्रहण करना चाहिये।

जीव के भेद ग्यारहवें बारहवें पाठ में विस्तृत बताये जा चुके हैं इसलिये यहां संक्षेप में ही कहा जाता है। जीव दो प्रकार के हैं, त्रस और स्थावर। जो जीव अपनी इच्छापूर्वक चल फिर सकें अथवा सर्दी, गरमी, कष्ट आदि से बचने के लिये एक स्थान से हटकर दूसरे स्थान में जा सकें उन्हें त्रस कहते हैं। तथा जो स्थिर रहे, अपनी इच्छानुसार चल-फिर न सकें, अथवा सर्दी, गरमी आदि से बचने के लिये एक स्थान से दूसरे स्थान पर आ जा

उदेश्य असंतोष और इच्छाओं को काबू में रखना है । इस व्रत का नाम 'परिग्रह परिणाम' व्रत है । ५ ।

ये पाँच व्रत अणुव्रत कहलाते हैं । इनके आगे के (जिनका हम अभी वर्णन करेंगे) तीन व्रतों को गुणव्रत कहते हैं क्योंकि वे इन पांच व्रतों को गुण तथा पोषण करनेवाले हैं । अवशेष चार शिक्षा व्रत कहलाते हैं । वे बार बार नित्य आदरने योग्य हैं ।

६-छठे व्रत में दसों दिशाओं में, वाणिज्य व्यापार के लिये जाने आने का नियम किया जाता है । चार दिशाएं, चार विदिशाएं और ऊपर व नीचे ये दस दिशाएं हैं । इस व्रत का उद्देश लोभ वृत्तियों पर अंकुश रखना, धर्म की वृद्धि एवं पुष्टि करना, हिंसादि पापों को रोकना है । इसका नाम 'दिशिपरिमाण' व्रत है । ६ ।

७-सातवें व्रत का उद्देश्य भोग और उपभोग की वस्तुओं का और उनके प्राप्त करने के साधन रुप व्यापार आदि का विवेक करना है । एक बार काम में आनेवाले पदार्थ भोग कहलाते हैं जैसे अनाज, पानी, दूध, दहीं आदि खाने पीने के पदार्थ । तथा बार बार काम में आनेवाले पदार्थ उपभोग कहलाते हैं । जैसे वस्त्र, जूना, मकान, सवारी इत्यादि (पहनने, रहने आदिके पदार्थ) । मांस, मदिरा, कन्दमूल, बहुत बीजों वाले फल आदि तथा जिन पदार्थों के रस, स्पर्श, गंध में विकार हो गया है ऐसे चलित रस पदार्थ, तथा सडे हुए फूल, फल, भोजन्नादि पदार्थों का त्याग करना चाहिये । व्यापार में कोयले का, खाने खुदवाने का, जमीन फोडने का, सुरङ्ग लगवाने का, यंत्रादि चलाने का, यंत्र काटने का, हिंसक शस्त्र बनवाने का तथा विष आदि वस्तुओं का व्यापार नहीं करना चाहिये । जिससे विध्वंस परिणाम उत्पन्न हों ऐसी फोजदार की, जेलर की, कोतवाल की, कर लेनेवाले की नौकरी नहीं करनी

चाहिये । वकालत का धंधा भी इन उपरोक्त धन्धों की अपेक्षा कम पापमूलक नहीं हैं । इस व्रत से तृष्णा लोलुपता पर पूरा अंकुश होता है । इस सातवें व्रत को 'भोगपभोग परिमाण' व्रत कहते हैं । ७ ।

८-आठवें व्रत में अनर्थ दंड से पीछे हटने की बात है । माता-पितादी कुटुम्ब के लिये धनोपार्जन आदि के हेतु जो कर्म-पापश्रव हेतु कर्म करना पडता है वह अर्थदण्ड है । इसके सिवाय बिना प्रयोजन के पापबन्धन का जो काम किया जाता है, वह अनर्थदण्ड है ।

इस व्रत के चार विभाग हैं । (१) आर्तध्यान और रौद्रध्यान उत्पन्न हो ऐसे मारकाट और संहार करने के विचार न करना (२) हिंसा सम्बन्धी उपदेश नहीं देना (३) जिनसे जीवों की हिंसा हो ऐसे शस्त्र, हल, हथियार, अग्नि और विष आदि जहरी पदार्थ किसी को उसके मांगने पर भी नहीं देना । (४) प्रमाद का पोषण करनेवाली-स्त्रीयों की, देशकी, भोजन की तथा राज्य की विकथा न करना, लडाई करनेवाले को उत्साहित नहीं करना, पशुओं को आपस में न लडाना, जुआ न खेलना, जिससे काम-वासना को उत्तेजन मिले ऐसा साहित्य न पढना । घी, दूध, दहीं, तैल, गुड आदि के रस से भरे हुए बर्तनों को खुले न छोडना ताकि उनमें पडकर जीव मरने नहीं पावें ।

यह 'अनर्थ दंड विरमण' व्रत है । हिंसा का पोषण, विषय-वासना को उत्तेजन, वैर-विरोध की वृद्धि, प्रमाद का पोषण तथा समय का दुरुपयोग आदि दुर्गणों को रोकना इस व्रत का उद्देश्य है । ८ ।

पाठ २१ - परमात्मा का स्मरण

हृदय को पवित्र बनाने के लिये परमात्मा के पवित्र नाम का बार-बार स्मरण करना बहुत ही जरुरी है । रात और दिन के भाग में जितना समय मिले उतने समय परमात्मा का नाम जपना चाहिये । विशेषत: रात का पिछला भाग जाप करने के लिये बहुत ही उत्तम है । जाप करने से हम अपने इष्टदेव का ध्यान अपनी तरफ आकर्षित करते हैं, उनके कृपापात्र बनते हैं । हमें उनकी सहायता की बहुत आवश्यकता है । हमारी उन्नति के मार्ग में जो विघ्न - बाधायें आती है उन्हें वे दूर करते हैं । हमें उत्तम मार्ग बताते हैं । हमें उल्टे मार्ग से हटाकर सीधे मार्ग में लगाते हैं । किसी भी प्रकार की क्षुद्र वासना में फंसने से हमें बचाते हैं और हमारी बुद्धि को निर्मल करते हैं ।

वारंवार जाप करने से मन में खराब विचार नहीं आते । हमारा मन फालतू कामों में भटकने से रुक जाता है । जाप करने से पवित्र परमाणु अपनी तरफ आकर्षित होते हैं । अपने आसपास का वातावरण पवित्र बनता है । अपना पुण्य बढता है, पाप घटता है । शरीर के परमाणु भी पवित्र बनते हैं । अपने संकल्प सिद्ध होते हैं । प्रतिलकूतायें दूर होती हैं, अनुकूलतायें मिलती हैं । हम आगे बढ़ने के अधिकारी होते हैं । लोगों के प्रिय बनते हैं । व्यवहार की व्यग्रता कम होती है । लम्बे समय तक जाप करते रहने से वचनसिद्धि मिलती है जिसके प्रभाव से हम जो कुछ बोलें वही होता है । ये सारी बातें परमात्मा के नाम को बार-बार स्मरण करने से होती हैं ।

परमात्मा का स्मरण करते समय मन में दूसरे विचार नहीं आने देना चाहिये । इसका फल तभी मिलता है जब कि मन जाप के सिवाय दूसरी तरफ न जाय । मन के भटकने से जाप की शक्ति बिखर जाती है, दूसरे काम में बंट जाती है । जैसे किसान खेत में बीज बोकर इस बात की सावधानी रखता है कि इस खेत में व्यर्थ के घासादि न उगें । यदि उग भी जावें तो वह होशियार किसान उन निकम्मे घासादि अथवा कांटे आदि के पौधों को उखाड फेंकता है और स्वयं जो बीज बोये हैं उन्हीं को वह जलादि की खुराक लेने देता है क्योंकि ऐसा करने से ही फसल अच्छी होती है । इस प्रकार हम जिस उद्देश्य से परमात्मा का स्मरण करते हैं उस उद्देश्य को ही हमारे जाप की सम्पूर्ण शक्ति मिलनी चाहिये । व्यर्थ के घासफूस के समान निकम्मे विचारों को मन से तत्काल ही निकाल देना चाहिये । जिससे हमारे परिश्रम का सारा बल हमारे जाप को ही मिले और उस से उत्पन्न होनेवाले मधुर फलों का हम उपभोग कर सकें ।

जाप करने में ये भावनाएं मुख्य होनी चाहिये कि- "हे परमात्मा ! इस जाप करने से मेरा मन निर्मल हो । मेरा जीवन पवित्रता के साथ बीते । मैं व्यवहार मार्ग में निर्लेपपने से चलूं । मेरी मलीन वासनाएं शान्त हों । मुझे मेरे कर्तव्य का सदा ख्याल रहें । मेरी प्रवृत्ति परमात्मा की तरफ हो । मेरे उदय में आनेवाले सुखों-दुःखों को मैं निर्लेप भाव से भोग सकूं, मुझे मेरे कर्तव्य का सदा ख्याल रहे । मुझे ऐसा बल दो । मैं नये बन्धनों में न बंधू । मेरा आत्मविकास हो, इसलिये मुझे आवश्यकीय साधन प्राप्त हो । आत्मा की सारी शक्तियां प्रगट हों । हे परमात्मा ! आत्मा की व्यापक शान्ति की प्राप्ति

ही इसमें ऐसा अनुक्रम भी है जिससे सारी स्थितियां नमस्कार करनेवाले को प्राप्त हो । प्राप्तव्य-प्राप्त करने योग्य जितनी भी वस्तुएं हैं वे इस नव पद से बाहर नहीं हैं । इसलिये साधन भी यही है साध्य भी यही है । जाप करने का उद्देश्य इन सब भूमिकाओं-स्थितियों को पारकर अन्तिम परमात्म दशा ही प्राप्त करने का है ।

इस सारे मन्त्र का थोडे अक्षरों में भी समावेश हो सकता है और उसका भी जाप किया जा सकता है । जैसे ॐ अ - सि - आ - उ - सायनमः अथवा ॐ अर्हं नमः, ॐ महावीराय नमः, ॐ पार्श्वनाथाय नमः । चाहे कोई भी जाप करो इस में आपत्ति नहीं है । जाप हृदय के भाग में करना चाहिये तथा एक ही साथ जितने ज्यादा समय तक बैठकर जाप किया जाता है उतना ही ज्यादा फल मिलता है । यदि अन्य समय में भी चलते, फिरते, उठते, बैठते, सोते जागते प्रति क्षण मन में जाप किया जाय तो अत्यन्त लाभदायक है । वस्त्र आदि की अशुद्धि के अभाव में होठ न हिलाकर मन में जाप करने में कोई बाधा नहीं है । मतलब यह है कि सब जगह, सब समयों में, चाहे कैसी भी स्थिति हो, हर समय जाप करना चाहिये । जाप किये बिना नहीं रहना चाहिये । उन्नति करने में यह प्रारंभिक मार्ग बहुत उपयोगी है ।

सार प्रश्न

१. जाप किस लिये करना चाहिये ?

२. जाप किस के नाम का करना चाहिये ?

३. जाप करने का उद्देश्य क्या हैं ?

४. जाप करने के पहले क्या करना चाहिए ?

५. जाप में किसका समावेश होता हैं ?

६. जाप कहां करना चाहिये ?

७. जाप कब करना चाहिये ?

८. बारबार जाप करने से क्या लाभ होता हैं ?

९. जाप के समय दूसरे विचार आने से क्या हानि होती हैं ?

पाठ - २२ धर्म का फल क्यों नहीं मिलता है ?

कई लोग कहा करते हैं कि हम परमात्मा का स्मरण-पूजन करते है, दान देते हैं, व्रत-तप-जप करते हैं, परोपकारमय जीवन व्यतीत करते हैं, परन्तु हमारे मन को शान्ति प्राप्त नहीं होती । अनेक विचार आया करते हैं । उपाधियां कम होने के बजाए बढती जाती हैं, तृष्णा भी बढ़ती है । मन का सुधार होता नहीं है और व्यवहार भी सुखपूर्वक चलाने के बदले बडी कठिनता से चला सकते हैं। यदि धर्म का फल मिलता हो तो फिर हमें धर्म करते हुए भी इसका फल क्यों नहीं मिलता ? हम तो धर्मात्मा को दुःखी और पापी को सुखी देखते है । इस का कारण क्या है ?

ज्ञानी महात्मा हमें इस का उत्तर देते हैं, कि भाइयों, धर्मी को दुःख और पापी को सुख मिलना असम्भव है । परन्तु तुम धर्मात्मा और पापात्मा की परीक्षा करने में भूल करते हो । मनुष्य एक तरफ , जैसा हम ऊपर बता आये हैं वैसा थोडा बहुत धर्म करते हैं, और उस किये हुए धर्म की कीमत (फल) ब्याज सहित लेना चाहते हैं परन्तु दूसरी तरफ स्वयं किये हुए पाप का बदला (फल) भोगने से घबराते हैं । ऐसे लोगों को तुम धर्मात्मा कहते हो, परन्तु वे वास्तविक धर्मात्मा नहीं है । यह कहां का न्याय है कि एक तरफ धर्म करके एक मन बोझा कम करते हैं और दूसरी तरफ पाप करके दस मन बोझा बढ़ा लेते हैं और फिर कहते हैं कि हमारा भार हलका नहीं हुआ । आश्चर्य है !एक आदमी किसी तालाब को खाली करना चाहता है; तालाब में से एक तरफ से दो मन पानी निकालता है और दूसरी तरफ से बीस मन जमा

कर लेता हैं तो बताओ वह तालाब खाली होगा या उसमें इतना पानी बढ़ेगा कि, वह मात्र तालाब को ही नही परन्तु उसके आसपास के वृक्षों, मकानों इत्यादि को भी विध्वंस कर देगा । तुम्हारे जीवन की भी यही दशा है । फिर तुम ही बताओ कि तुम धर्म के फल स्वरुप सुख को कब देख सकोगे ?

यदि तुम्हें सुखी बनना हो तो पहले पापों के आने के मार्गों को बन्ध करो । फिर यदि तुम थोडा सा भी परमार्थ करोगे तो उसका शुभ फल तुम्हें इसी भव में मिले बिना नहीं रहेगा ।

मनुष्य मन, वचन और काया द्वारा प्रवृत्ति करके अनेक प्रकार के पाप बीज बोते हैं । उनको रोकने की आवश्यकता है । उन सब पापों का समावेश अठारह भागों में होता है । वे अठारह भाग उन से उत्तम प्रकार के अठारह भागों द्वारा रोके जा सकते हैं । जैसे सर्दी उष्णता से, अन्धकार प्रकाश से और गर्मी शीतोपचार से मिटाई जा सकती है वैसे ही अठारह पापों को भी उनके विरोधी भावो द्वारा रोक सकते हैं ।

पापों के आने के मार्ग	पापों को रोकने के मार्ग
१. प्राणातिपात जीव हिंसा	१. जीव हिंसा न करना ।
२. मृषावाद झूठ बोलना ।	२. सत्य बोलना ।
३. अदत्तादान-चोरी करना ।	३. चोरी न करना ।
४. मैथून-विषय सेवन करना ।	४. ब्रह्मचर्य पालना ।
५. परिग्रह-संग्रह करना ।	५. त्याग अथवा प्रमाण से पदार्थ रखना ।
६. क्रोध-गुस्सा करना ।	६. क्षमा करना ।
७. मान-अहंकार, गर्व, अभिमान ।	७. नम्रता रखना ।

८. माया-छ्ल, प्रपञ्च, कपट करना ।	८. सरलता रखना ।
९. लोभ-लालच करना ।	९. संतोष रखना ।
१०. राग-स्नेह करना ।	१०. वैराग्य धारण करना ।
११. द्वेष-ईर्ष्या करना ।	११. प्रेम रखना ।
१२. क्लेश-झगडा, लडाई करना ।	१२. शान्ति - मेल मिलाप करना।
१३. अभ्याख्यान झूठा दोष देना।	१३. किसी पर दोष-कलंक न लगाना ।
१४. पैशुन्य-चुगली करना ।	१४. चुगली न करना, गुप्त बातें प्रगट न करना ।
१५. रति-अरति हर्ष, शोक करना।	१५. समभाव से रहना ।
१६. परपरिवाद-दूसरे की निन्दा करना ।	१६. दूसरे के गुणो का वर्णन करना । अन्यथा चुप रहना ।
१७. माया-मृषावाद कपट सहित झूठ बोलना ।	१७. सरलता पूर्वक सत्य कहना ।
१८. मिथ्यात्व-अधर्म को धर्म कहना।	१८. सत्य धर्मको ही धर्मरुप मानना।

पाप के आने के मार्ग !......!

इस प्रकार ये अठारह पापों के आने के मार्ग तथा इनको रोकने के लिये वे पाप न करने रुप विरोधी मार्ग बता दिये गये हैं ।

इन अठारह पाप के मार्गो का अर्थ इस प्रकार है :-

१-जीवों की हिंसा नहीं करना । जब तुम को दुःख प्रिय नहीं है तब वह दूसरों को कैसे प्रिय हो सकता है ? संसार में तुम्हारे खाने के लिये अनेक पदार्थ हैं । तुम तुम्हारे क्षणिक स्वाद के लिये किसी जीव का जीवन न लो । जीवन जैसे तुम्हें प्रिय

है वैसे औरों को भी प्रिय है । अपने मौज शौक के लिये जीवों के प्राण न लो, तुम क्या अमर होकर आये हो ? याद रखो कि, जब तक तुम दूसरों को मारोगे तब तक तुम भी मारे जाओगे । यदि दूसरों को निर्भय करोगे तो तुम भी निर्भय बनोगे । दूसरों को दुःख-त्रास दोंगे तो तुम्हें भी दुःख मिलेगा । तुम कुदरत के कानून से किसी तरह से भी नहीं बच सकते हो । क्योंकि तुम भी कर्माधीन जीवित प्राणी हो । दूसरे भी वैसे ही हैं । थोडे जीवन के लिये वैर विरोध बढ़ाकर लडाई झगडा न करो । पृथ्वी अथवा धन तुम साथ नहीं लाए हो और नहीं साथ ले जा सकोगे । तुम्हारे पहले कोई अपने साथ ले नहीं गया है इसलिये खाने पीने और ऐश- आराम के लिये, न किसी से वैर विरोध करो और न किसी जीव की हिंसा करो ।

२-झूठ न बोलना । चाहे कैसा भी कठिन समय क्यों न हो सदा सत्य ही बोलों । झूठ बोलनेवाले के मुख में अनेक प्रकार के रोग हो जाते हैं ।

३-चोरी न करना । यदि कोई तुम्हारी चीज चुरा ले तो तुम्हें दुःख होता है, वैसे ही दूसरे की चीज चुराने से उसको भी दुःख होता है । यह समझकर चोरी न करो । चोरी करने वाला दरिद्री होता है ।

४-पर स्त्रीका त्याग करना । तुम्हे हमेशा इस बात का ख्याल रहता है कि कोई तुम्हारी स्त्री की तरफ बुरी निगाहों से न देखे। तब तुम्हें क्या अधिकार है कि तुम दूसरों की स्त्रीयों को बुरी निगाह से देखो ? ऐसा करने से तो वैर विरौध बढ़ता है ।

५-परिग्रह परिमाण अपनी जरुरत से अधिक धन, धान्य, सोना, चांदी, जमीन पशु आदि वस्तुओं का संग्रह करना तथा उन्हें

प्राप्त करने के लिये या रक्षण करने के लिये अनेक प्रकार के क्लेश करना अथवा दूसरे जीवों को कष्ट देना - इस प्रकार का पाप परिग्रह कहलाता है । गृहस्थों को चाहिये कि, इस पाप से बचने के लिए अपनी जरुरत के माफिक ही वस्तुएँ रखने का नियम करें ।

६- क्रोध करना और दूसरों को क्रोध कराना पाप है अतः क्रोध के समय क्षमा रखना और क्रोध को निष्फल करना चाहिये।

७-मान, अहंकार, गर्व, अभिमान ये एक ही वस्तु के नाम हैं इस संसार में किस का अभिमान टिका रहा है ? हमारे पास कौन-सी ऐसी अलभ्य वस्तु है ? कौन सा पूर्ण ज्ञान है ? कहां महान बल है कि जिस पर हम गर्व करें ? इसलिये नम्रता रखना और ज्ञानी एवं गुणी जनों का विनय करना चाहिये ।

८-कपट, छल, प्रपंच, दगा, माया, धोखेबाजी ये सब एक ही वस्तु के नाम हैं। पुण्य के बिना न कोई पदार्थ मिलता है और न कोई स्थिर ही रहता है । इसलिये धोखा करना सर्वथा अनुचित है ।

९-लोभ का त्याग करने के लिये संतोष रखना चाहिये, उदार बनना चाहिये तथा आवश्यकता वाले की शुभ भावना से सहायता करनी चाहिये ।

१०-राग का अर्थ है स्नेह । जिस वस्तु पर स्नेह-मोह रखना योग्य नहीं है उस पर कभी राग नहीं रखना चाहिये । जैसे परधन, पर-स्त्री, देह इत्यादि । शरीर, धन अधिकार, मान आदि का वियोग अवश्यम्भावी है, ऐसा सोच-समझकर सदा वैराग्य भावना को उत्तेजित करना चाहिये ।

११-द्वेष-अर्थात् किसी से ईर्ष्या नहीं करना चाहिये । गुणानुरागी होकर सब से प्रेम बढ़ाना चाहिये । द्वेष करने से सामने

वाले (दूसरे) का बिगाड हो या न हो परन्तु अपना बिगाड तो अवश्य होता है ।

१२-कलह-टंटा, झगडा, फिसाद, गाली, गलौच, लठंलट्ठा, लडाई, जूतंफाग आदि सब का मूल कारण क्लेश ही है । आपस में सदा सर्वदा मेल बढ़ाना चाहिये, क्योंकि इस संसार में रहते हुए छोटे बडे सभी से हमें काम पडता है । झगडे से लक्ष्मी का नाश होता है, वैर विरोध बढता है ।

१३-अभ्याख्यान-किसी पर झूठा आरोप नहीं करना चाहिये, कलंक नहीं लगाना चाहिये । कई बार जब सच्ची बात से भी हमें दुःख होता है, तब झूठा आरोप-कलंक लगाने से दूसरे को प्राणदण्ड जैसा कष्ट होता होगा इसका विचार स्वयं ही कर लेना चाहिये । कितने ही तो अपने सिरपर झूठा दोष लगने से अपनी इज्जत आबरु जाने के भय से आत्महत्या भी कर लेते हैं । इसका बदला बहुत ही बुरा मिलता है ।

१४-पैशुन्य-किसी की चुगली नहीं करनी चाहिये । किसी की पीछे से बातें करना, और किसी की गुप्त बात को प्रकट करना चुगली हैं । चुगली करने से कभी-कभी तो बडे भारी-भारी अनिष्ट हो जाते हैं ।

१५-रति-अरति-सुख दुःख में हर्ष शोक नहीं करना चाहिये । सुख अपने उत्तम कर्मों का फल है । उसको भोगने से पुण्य कम होता है । दुःख अपने बुरे कर्मों का फल है । उसे भोगने से अपना पाप कम होता है । इसलिये सुख दुःख के संयोग में हर्ष-शोक करने की कोई आवश्यकता नहीं है, परन्तु समभाव रखने की आवश्यकता है । ऐसा न करने से उन्हें भोगते समय और नये कर्मों का बन्ध होता है ।

१६-पर परिवाद-किसी की निन्दा नहीं करनी चाहिये । बुरे कर्म करनेवाले को दण्ड मिले बिना नहीं रहता । उनकी निन्दा करनेवाला मनुष्य उनके पाप धोता है । ऐसे विना भाडे के धोबी हमें क्यों बनना चाहिये ? निन्दा से वैर विरोध बढ़ता है ।

१७-माया मृषावाद कपट सहित झूठ भी नहीं बोलना चाहिए। 'हाथी के दांत खाने के और दिखाने के और' अर्थात् बताना कुछ और देना कुछ वो ही कपट है । फिर ऊपर से कहना कि मैंने जो बताया था वही दिया है, यह झूठ है । इस प्रकार इसमें दो पाप एक साथ होते हैं ।

१८-मिथ्यात्व-शल्य । आत्मा सत्य है, नित्य है, पवित्र है, इसके बजाय शरीर को आत्मा मानना यह मिथ्यात्व है । इसी तरह जो देव गुरु और धर्म आत्मोन्नति में बाधक हैं, आत्मा की उन्नति में कारण रुप नहीं हैं, ऐसे देव, गुरु और धर्म को सत्य मानना मिथ्यात्व है ।

इन पाप स्थानकों का त्याग करने के बाद जो धर्म किया जाता है उसका फल बहुत ही जल्दी और अच्छा मिलता है । इन पाप स्थानकों को प्रातः संध्या दोनों समय याद कर लेना चाहिये। अर्थात् यह देख लेना चाहिए कि मैंने दिन भर में या रात भर में इन अठारह पापों में से कौन सा पाप किया है । जो पाप किया हो उसके लिये परमात्मा की साक्षी से क्षमा मांगनी चाहिये । फिर से ऐसा दोष न लगने पावे, इसका निश्चय करना चाहिए और ऐसा मौका आने पर उससे बचना चाहिये । इस प्रकार निरन्तर दो बार विचार कर लेने से अनेक दोष कम हो जाते हैं । इस प्रकार आते हुए दोषों को रोकना अर्थात् नवीन कर्मो का संचित होना बन्ध करना है तथा धर्म मार्ग पर चलकर पूर्व संचित कर्मो को निकाल

देना चाहिये । ऐसा करने से आत्मा का विकास बहुत ही थोडी मेहनत से जल्दी होता है । जीव समय समय पर थोडा बहुत धर्म तो करते ही हैं, परन्तु इसके साथ ही उपर्युक्त प्रकार के पाप भी करते जाते हैं इसलिये उन्हें धर्म का फल जैसा चाहिए वैसा नहीं मिलता ।

सार प्रश्न

१. मनुष्यों की शिकायत क्या हैं ?
२. धर्म की परीक्षा में भूल कहां होती हैं ?
३. पाप का समावेश कितने मार्गों में होता हैं ?
४. पाप के बीज कैसे बोये जाते हैं ?
५. पाप के आने का मार्ग कौन सा हैं ?
६. पाप को बन्ध करने का मार्ग क्या हैं ?
७. पापों के नाम तथा इनके अर्थ कहो ?
८. कब धर्म करने से उनका अच्छा फल मिलता हैं ?
९. दोषों की कब और कितनी बार याद करना चाहिये ?
१०. आत्मा का विकास कब होता हैं ?

पाठ - २३ आत्मश्रद्धा-अपने पर विश्वास

आत्मा अमर है । उसके ज्ञान और शान्ति की सीमा नहीं है । सारे विश्व को जानने का ज्ञान आत्मा में है । विश्व पर सत्ता चला सके इतना बल आत्मा में है । वह आत्मा मैं स्वयमेव हूँ। मुझे अपने आत्मबल पर पूर्ण विश्वास है । उसमें कोई विघ्न नहीं डाल सकता है । विघ्नों को हटाने का बल मुझ में है । महान् विपदाओं के समय भी मेरी आत्मश्रद्धा अटल होगी । प्रबल भय के समय भी मैं अपने आत्म-विकास का कार्य किये ही जाऊंगा। मेरा ज्ञान बातों में ही नहीं रहेगा, परन्तु मैं सत्याचारण को अभी से करना प्रारम्भ करता हूँ । मैंने अज्ञानदशा मे स्वयं ही अपने को बन्धन में डाला हैं दूसरा कोई मुझे बन्धन में नहीं डाल सकता। इसलिये इन बन्धनों को दूर करने के लिये स्वयं ही पुरुषार्थ करने की आवश्यकता है । इन बन्धनों को तोडने में दूसरा मुझे कोई सहायता देगा; इस भावना को मैं अभी से छोडता हूं । अब मैं परमुखापेक्षी न रहूंगा । सुख दुःख विरासत में मिली हुई चीजें नहीं हैं । ये तो मेरे उन्मार्ग सेवन से किये हुए कृत्यों का परिणाम हैं। अब सीधे रास्ते चेष्टा करके उन्हें दूर करुंगा । ये बादल बिखेरे जा सकते हैं । मैं विघ्नों को विघ्न रुप नहीं मानता । परन्तु इनके अस्तित्व से ही मुझे पुरुषार्थ करने में विशेष प्रोत्साहन मिलता है। दुःख अथवा विघ्नों की मौजूदगी से मेरा सामर्थ्य विशेष प्रकट होता है, मैं इस समय दुगुने वेग से पुरुषार्थ कर सकता हूँ । मैं ज्यों ज्यों आगे बढता जाऊंगा त्यों त्यों मेरे संयोग भी अवश्यमेव

बदलते ही जाएंगे । परिस्थितियों के आधीन होने में नहीं परन्तु उन्हें आधीन करने में ही सच्ची वीरता है । अनुकूल परिस्थिति में रहने की इच्छा करना तो मेरी एक निर्बलता है उससे मेरी शक्ति दबी रहती है । मुझे पुरुषार्थ करने का अवकाश नहीं मिलता, इसलिये मैं प्रतिकूल संयोगो को मित्र समान मानकर उनका स्वागत करता हूं । मेरे प्रतिकूल मित्रो ! आओ ! तुम्हारे आने से मुझे विशेष जागृति रखने और परिश्रम करने का अवसर प्राप्त होता है । मैं स्वार्थ-लालच का दास कदापि न बनूंगा क्योंकि इनसे मेरी प्रवृत्ति रुक जाती है । मैं अपने भाग्य की कठपुतली न बनूंगा परन्तु मैं उसे बदल डालूंगा । मुझमे अनन्त शक्ति है, इस भावना से मुझे कार्य करने का जो उत्साह मिलता है वह और किसी भी तरह से नहीं मिलता । इस आत्म श्रद्धा के प्रमाण अनुसार ही मैं कार्य कर सकता हूं । मैं अपनी शक्ति के विषय में किंचित् मात्र भी सन्देह नहीं करुंगा, मुझे तो इस विषय में थोडा सा भी सन्देह नहीं है । यदि मैं आत्म शक्ति में ही शंका करुंगा तो कोई भी महत्त्व का कार्य मुझसे न हो सकेगा मेरी आत्म श्रद्धाको-मैंने जो कुछ निश्चय किया है उस कार्य को पूरा कर डालने का मुझ में सामर्थ्य है मेरे इस विश्वास को जो डिगाने का प्रयत्न करता है उसे मैं अपना शत्रु समझता हूं, मुझे सब से बडी हानि पहुंचाने वाला वही है । इस विश्व में वही लोंग चमत्कार रुप माने जानेवाले महान कार्यों को कर सकते हैं जो कि महान आत्म श्रद्धावाले और स्वयं अपने हाथ में लिये हुए कार्यों को पूरा करने में दृढ श्रद्धा संकल्प युक्त होते हैं । महान् कार्य सिद्ध करने में मेरी महान् आशा, महान् आत्मश्रद्धा तथा आग्रह पूर्वक उद्यम मेरे सहायक एवं वास्तविक मित्र हैं ।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि, मनुष्य में महान् शक्ति, विशाल बुद्धि और ऊंची विद्या होते हुए भी वह उतना ही कार्य कर सकता है जितनी उसमें आत्म श्रद्धा होती है। किसी के कहने से अथवा विघ्न बाधाओं के आ जाने से मैं आत्म श्रद्धा में न्यूनता नहीं आने दूंगा। कदाच मेरी संपत्ति नष्ट हो जाय, स्वास्थ्य बिगड जाय, कीर्ति कलंकित हो जाय तथा लोगों की श्रद्धा भी चाहे उठ जाय तो भी जब तक मुझे अपने पर दृढ विश्वास है वहां तक अपने उदय की मुझे आशा है। यदि मेरी आत्मश्रद्धा अचल होगी तथा उसके बल से आगे बढ़ता ही जाऊंगा तो कभी न कभी इस जगत् को .मेरे लिये मार्ग करना ही पडेगा।

मैं अपने आपको क्षुद्र समझकर कभी भी निर्बल नहीं बनाऊंगा। यह मुझे दृढ़ विश्वास है कि यदि मैं अपने आपको दूसरों के सामन श्रेष्ठ और सबल न मानकर क्षुद्र और निर्बल प्राणी मानूंगा तो मेरा जीवन निर्बल और शक्तियां मन्द पडे बिना नहीं रहेंगी। मनुष्य स्वयं अपनी किंमत जितनी करता है, उससे अधिक दूसरे लोग कभी भी नहीं कर सकते। यदि हम स्वयं ही दीन, कंगाल मनुष्य अथवा क्षुद्र जीवजन्तु के समान जीवन व्यतित करेंगे तो हमें भगवान् महावीर के समान प्रचण्ड पराक्रमी अथवा महान् होने की आशा कदापि नहीं रखनी चाहिये। कारीगर वैसी ही मूर्ति तैयार कर सकता है जैसा कि उसके सामने नमूना होता है।

यदि मैं स्वयं ही अपनी शक्ति का उपयोग करना नहीं जानता तो मुझमें प्रबल शक्ति होते हुए भी मुझे अपना जीवन साधारण कार्य करने में ही व्यतीत करना पडेगा। जिन लोगों को अपनी शक्ति की बहुत थोडी खबर होती है, वे अनन्त बलवान् होते हुए भी निर्माल्य जीवन व्यतित करते हैं। यदि मैं अपने आपको इन

के समान क्षुद्र प्राणी समझूंगा तो अवश्य ही वीरों के पैर मेरे सीने पर होंगे और मैं उनके पैरों तले कुंचला जाऊंगा । यदि मैं आत्म श्रद्धा, दृढ़ निश्चय और सफलता की आशा भरी भावना से कार्य प्रारम्भ करुंगा तो मेरी आत्मशक्ति विकसित होगी और लोग अपने आप ही मेरी तरफ खिंचे चले आयेंगे ।

काम चाहे छोटा ही क्यों न हो यदि मैं उसे अच्छी तरह से करुंगा तो उससे मुझमें ऊंचे दर्जे का काम करने की योग्यता आयेगी । श्रद्धा श्रद्धा को पैदा करती है । काम को काम सिखाता है । उत्साह से उत्साह बढ़ता है । ऐसी छोटी छोटी सफलताओं से मेरी आत्म श्रद्धा और शक्ति बढ़ती है । यह मेरी दृढ़ मान्यता है कि इस आत्म श्रद्धा में से उत्पन्न हुई मेरी हिम्मत सत्ता में रहे हुए अनन्तबल तक को बाहर खींच लायेगी ।

भय, शंका और अश्रद्धा मैं अपने हृदय में से निकाल देता हूं और उनके स्थान पर निर्भयता, निश्चलता तथा वीरता को बिठाता हूं । इन्ही से मैं महान् कार्य कर सकूंगा । मन्द विचारों का फल भी मन्द ही होता है । विचार के अनुसार ही कार्य में भी सिद्धि होती है । श्रद्धा के अनुसार ही लाभ होता है । जैसे अत्यंत गर्मी लोहे को भी गला देती है । बिजली की प्रबल शक्ति कठिनतम हीरे को भी पिघला देती है । उसी प्रकार दृढ़ निश्चय और अजेय आशा से मैं अपने काम में सफलता प्राप्त करुंगा । यदि मेरा निश्चय ढ़ीला होगा तो मेरे प्रयत्न भी ढ़ीले ही होंगे । मैं अपने भाग्य की अपेक्षा महान हूं । भाग्य को मैंने ही बनाया है । बाहर की किसी भी शक्ति की अपेक्षा मेरी आत्मा में अनेक गुणी अधिक शक्ति है । इस बात को यदि मैं न समझूंगा तो मेरे द्वारा कोई भी महत्त्व का कार्य न होगा ।

यद्यपि यह आत्मश्रद्धा कोई मेरा अहंकार नहीं है, परन्तु ज्ञान है, तथापि वह अहंकार के रुप में परिवर्तन न हो जाय, इसकी सावधानी रखते हुए मैं निर्मल श्रद्धा बढ़ाता जाता हूं । प्रतीति में से श्रद्धा का जन्म होता है । मेरी सब प्रकार की उन्नति का आधार मेरी आत्म-श्रद्धा पर ही अवलम्बित है । एक कहता है कि- "संभवतः मैं यह कार्य कर सकूंगा अथवा करने का प्रयत्न करुंगा ।" और "करुंगा ही ।" इन दोनों की आत्म-श्रद्धा में महान् अन्तर है । पहले के विचार निर्बल और श्रद्धाहीन हैं तथा दूसरे के विचारों में प्रबलता और शक्ति की दृढ़ता है । इन दूसरे विचारों वाला वीर पुरुष ही प्रारम्भ किये हुए कार्यों को पूरा कर सकता है ।

मैं कार्य को सिद्ध करने के लिये प्रचण्ड बल के साथ कार्य आरंभ करुंगा और बीच में जो विघ्न, बाधाएं आवेंगी उन्हें नष्ट करने की शक्ति प्राप्त करता जाऊंगा । कोई भी विघ्न पूरा बल लगाये बिना और सतत प्रयत्न किये बिना नहीं हट सकता। डगू, पचू, शंकाशील और अस्थिर मन से प्रबल कार्य हो ही नहीं सकते । चाहे सारा जगत् भी एक वक्त मेरे कार्य से विरुद्ध क्यों न हो जाय तो भी मैं अपने प्रारम्भ किये हुए कार्य को अपनी आत्म-श्रद्धा से जरुर पूरा कर डालूंगा । क्योंकि मायावी जगत् और आत्मबल इन दोनों में महान अन्तर है । यदि मैं वह मान लूं कि अमुक कार्य करना मेरी शक्ति से बाहर है तो जगत में ऐसी कोई भी शक्ति नहीं है जो इस कार्य को सिद्ध करने में मुझे सहायक हो सके । आत्म विश्वास और महान् पुरुषार्थ किये बिना एक भी कार्य पूरा नहीं होता । आत्मा में एक ऐसी शक्ति है कि जो तीव्र इच्छा और प्रबल पुरुषार्थ करने से सर्व कार्य सिद्ध

कर सकती है । यह शक्ति सब वस्तुओं को अपनी तरफ आकर्षित कर लेती है । वास्तव में तो मेरी वस्तु ही मुझे मिलती है मेरा भाग्य मुझसे जुदा नहीं है । अपने को पामर समझनेवाले हतभाग्य जीव यह नहीं समझ सकते कि, वे स्वयं क्या हैं और उनमें कितना सामर्थ्य है तथा आत्मा के अन्दर छुपी हुई शक्ति को जागृत करने और प्रमाणिक प्रयत्न करने से असाध्य को भी साध्य कैसे बनाया जाता है ।

इस प्रकार अपने पर विश्वास रखनेवाला कोई भी मनुष्य, चाहे वह कितने भी निर्बल मनवाला क्यों न हो उपरोक्त विचारों का बार बार मनन करने से अपनी निर्बलता को दूर कर सकता है । आत्मा में अनन्त शक्तियां भरी पडी हैं परन्तु उनको प्रबल विचारों के द्वारा जागृत करने की आवश्यकता है । जब बुझती हुई आग भी पंखे की पवन से जाज्वल्यवान हो सकती है तब अनन्त शक्तियों से भरपूर आत्मा प्रबल विचार-बल के प्रोत्साहन द्वारा प्रदिप्त हो जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? विचार बल मुर्दा दिलों को भी जिन्दा कर देता है । जैसे जमीन पर पडी हुई गिल्लि की अणी पर डंडे से आघात कर उसे ऊंचे उछाला जाता है और एक बार उछालने के पश्चात् उसे जोर से धक्का मारना इतना सुगम हो जाता है कि दूसरे टल्ले से वह बहुत दूर चली जाती हैं, वैसे ही मनुष्यों को एक बार विचार बल की सहायता देकर ऊंचे उठाने चाहिये । थोडा सा ऊंचे उठने पर वे अपने आप ही बढ़ जायेंगे अथवा थोडे से सहारे से ही वे उन्नत हो जायेंगे ।

जो विचार-बल द्वारा अपनी निर्बलता कम करना चाहते हैं वे अवश्यमेव इस पाठ का मनन करें ।

सार प्रश्न

१. प्रतिकूल-परिस्थित में चित्त -प्रसन्न रखने कौनसे विचार करने चाहिए कोई चार विचार बताए ?

२. कौन-से तीन दुर्गुण महान कार्य के बाधक है ?

३. कौन-से तीन दुर्गुण महान कार्य के साधक है ?

४. प्रारम्भ किए कार्यों के पूर्ण करने के लिए मानसिक भूमिका कैसी होनी जरूरी है ?

पाठ - २४ ध्यान

चित्त को एकाग्र, निर्मल एवं स्थिर करने के लिये ध्यान की आवश्यकता है । ध्यान कैसे प्रारंभ करना चाहिये इसके विषय में यहां थोडा विवेचन किया जायेगा । ध्यान के लिये दृष्टि की स्थिरता बहुत उपयोगी है । उसको स्थिर बनाने के लिये पहले परमात्मा की सुन्दर मूर्ति की ओर खुली आंखों से बहुत समय तक एक टक देखने का अभ्यास करना चाहिये । आंखे नहीं झपकाना चाहिये । यदि आंखों में पानी आ जाय तो उसे आने देना चाहिये परन्तु आंखें बन्द नहीं करनी चाहिये । प्रारंभ में जब आंखों में पानी आ जाय तब देखना बन्द कर देना चाहिये । फिर दूसरे दिन देखना चाहिये । दिन में दो बार प्रातः और संध्या को अभ्यास करना ठीक होगा । जब पन्द्रह मिनट तक देखने का अभ्यास हो जाय तब भगवान् की मूर्ति के सामने से दृष्टि एक दम हटाकर आंख बन्द करके अपने अन्तरंग में देखना चाहिये । तब तुम्हारे अन्तरंग में तुम्हें उस मूर्ति का प्रतिबिम्ब दिखलाई देगा । अपने अन्तरंग में प्रभु मूर्ति को देखने के अभ्यास को क्रमशः बढ़ाते जाना चाहिये । बाद में एकांत, पवित्र तथा डांस, मच्छर रहित स्थान में बैठकर अन्य सब विचारों को दूर कर प्रतिमाजी को हृदय में स्थापन कर उनकी अष्ट-प्रकारी मानसिक पूजा करनी चाहिये ।

१-प्रथम स्नान कराते समय यह भावना करनी चाहिये कि, हे प्रभो ! आप तो सदा पवित्र हैं । पानी जैसे बाहर के मैल को दूर करता है, तृषा को बुझाता है और ताप को शांत करता है वैसे ही आप हमारे कर्म मल को दूर करिये, विषय तृष्णा को बुझाइये तथा त्रिविध ताप को शांत करिये ।

२-दूसरी चन्दन पूजा में नव अंगों पर तिलक करते हुए यह विचार करना चाहिये कि, हे प्रभो ! चन्दन जैसे काटने, घिसने और जलाने पर भी अपनी सुगंध और शीतलता को नहीं छोडता है वैसे ही दुनिया के सुख दुःखों के विविध प्रसंगों में मेरी आत्म जागृति बनी रहे । हे प्रभो ! मैं क्रोध वगैरह के ताप से जल रहा हूं । उससे शांत होने के लिए मैं सब कुछ सहन कर सकूं ऐसा बल मुझे प्राप्त हो ।

३-तीसरी पुष्प पुजा में विविध प्रकार के सुगंधित पुष्प चढाते समय इस प्रकार से विचार करना चाहिये कि, हे प्रभो ! पुष्प जैसे अपनी सुन्दरता और सुगन्ध के कारण देवों के मस्तक पर चढ़ाने के योग्य हुए हैं वैसे ही मुझे भी मिथ्यात्व रुप दुर्गन्ध को दूर कर अपने सत्य स्वरुप की सुन्दरता और उत्तम आचरण की सुगंध के कारण परमात्म स्वरुप में रहने का बल प्राप्त हो ।

४-चौथी धूप पूजा में सुगंधित धूप परमात्मा के सामने खेते हुए यह भावना करनी चाहिए कि धूप जैसे जलते हुए भी वातावरण को शुद्ध बनाकर सुगंध फैला देता है वैसे ही हे प्रभो ! मुझे भी ऐसा बल मिले कि मैं पूर्व कर्मों के योग से त्रिविध ताप में जलते हुए भी आत्म जागृति की शक्ति द्वारा आसपास के लोगों में तथा विरोधी जीवों के हृदयों में शान्ति का वातावरण फैला सकूं एवं शील की सुगन्धि से सबके चित्त को प्रसन्न कर सकूं ।

५-पांचवी दीपक पूजा में दिपक प्रगटा कर मन में भावना करनी चाहिये कि, हे प्रभो ! आप सदा केवलज्ञान से प्रकाशित हैं । मेरे हृदय में भी, आपके प्रताप से-अज्ञानान्धकार दूर हो, मलिन वासनाएं नष्ट हों तथा सदा के लिये मेरे अन्त कारण में ज्ञान की ज्योति जगमगाती रहे ।

६-छट्ठी अक्षत पूजा में मन से चावल का साथिया (स्वस्तिक) बनाना चाहिये। उस समय ऐसी भावना करनी चाहिये कि इन चार टेढ़ी पंखुडियों की तरह चार गतियां भी टेढ़ी हैं; उन्हें हे प्रभो ! तू दूर कर। मैंने उनमें बहुत परिभ्रमण किया है। अब मैं इनसे घबराता हूं। इस शरीररुपी छिलके को दूर कर चावल की तरह अखंड और उज्जवल आत्मस्वरुप प्रकट करने का मुझे बल दे।

७-सातवी नैवेद्य पूजा में विविध प्रकार का नैवेद्य (मिठाई) प्रभु के सामने रखकर ऐसी भावना करना कि, हे प्रभो ! इन पदार्थों को मैंने अनेक बार खाया है, तो भी तृप्ति नहीं हुई। मैं निरन्तर आत्मा के आनन्द में ही तृप्त रहूं इसलिये मुझे अनाहारी पद प्राप्त करने का बल दे।

८-आठवी फल पूजा में विविध प्रकार के फल प्रभु के सामने रखकर इस प्रकार भावना करनी चाहिए कि, हे प्रभो ! मैं इन फलों को प्राप्त करके अपनी आत्मा को भूल गया हूं। अब मुझे ऐसा फल प्राप्त हो कि, जिसके द्वारा मुझे परमात्मा के स्वरुप का अखण्ड भान सर्वदा बना रहे। दूसरे फल की इच्छा ही न हो।

इस तरह मानसिक पूजा (मन के द्वारा प्रत्येक वस्तु की कल्पना करते हुए पूजा) करके पहले प्रभु के दाहिने पैर के अंगूठे को देखने की कल्पना करनी चाहिये, बार बार उस कल्पना को खडी करनी चाहिये। जब वह अंगूठा दिखलाई दे, उस पर धारणा पक्की हो जाय की कल्पना करते ही वह अंगूठा झट से प्रत्यक्ष की तरह मालूम होने लगे, तब दूसरी अंगुलियां देखना। तत्पश्चात्

इसी प्रकार दूसरा पग देखना । इसी तरह पालथी, कमर, हृदय और मुख आदि क्रमशः देखना । तत्पश्चात् सम्पूर्ण शरीर पर धारणा करना चाहिये । जब तक एक भाग बराबर न दिखलाई देने लगे तब तक दूसरे भाग पर नजर नहीं डालनी चाहिये । दूसरा भाग दिखने लगे तब पहला और दूसरा दोनों भाग एक साथ देखने लगना । इस प्रकार आगे के भागों के साथ भी पहले के दिखलाई दिये हुए भागों को मिला मिलाकर देखते जाना चाहिये । संपूर्ण शरीर जब भली भांति दिखलाई देने लगे तब इस मूर्ति को सजीव प्रभु के रुप में बदल देना चाहिये; अर्थात् ऐसी कल्पना करके ध्यान करना चाहिये कि प्रभु का शरीर हलन चलन कर रहा है, बोल रहा है आदि । फिर इच्छानुसार प्रभु को दृढ़ करना । इस एकाग्रता के साथ परमात्मा के नाम का मन्त्र "ॐ अर्हं नमः" का जाप करते रहना चाहिये । उनके हृदय में द्रष्टि स्थापित कर वहीं जाप करना चाहिये । यदि गिनती न रहे तो कोई हानि नहीं हैं । भृकुटी और तालु पर भी जाप करना चाहिये । जितना समय मिले भगवान के जीवित शरीर को सन्मुख हृदय में खडा करके जाप करते ही रहना चाहिये । यदि हो सके तो घंटों के घंटे इस ध्यान में व्यतीत करते रहना चाहिये । ऐसा करने से मन एकाग्र होने के साथ साथ पवित्र होता है । कर्म मल जल जाता है । मन जितना निर्मल होता जायेगा उतना ही स्थिर भी होता जायेगा । मन को स्थिर करने की धारणा हृदय में और मस्तक पर करनी चाहिये । जैसे जैसे अभ्यास बढ़ता जायेगा वैसे-वैसे ही वैसे आगे का मार्ग हाथ में आता जायेगा । इस प्रकार प्रारम्भ में ध्यान का अभ्यास करने से आगे बढ़ सकेंगे, अर्थात् महान ध्यानी बना जा सकेगा ।

सार प्रश्न

१. ध्यान की क्या आवश्यकता हैं ?
२. ध्यान में विशेष उपयोगी क्या हैं ?
३. प्रभु के सामने देखने का अभ्यास कब बन्द करना चाहिये ?
४. मानसिक पूजा किसे कहते हैं ?
५. चन्दन का स्वभाव कैसा हैं ?
६. पुष्प पूजा की भावना किस तरह करनी चाहिये ?
७. धूप पूजा में क्या करना चाहिये ?
८. दीपक पूजा की भावना क्या हैं ?
९. अक्षत पूजा की भावना क्या हैं ?
१०. अनाहारी होने की इच्छा क्यों करनी चाहिये ?
११. वह कौन सा फल हैं कि जिसके मिलने से दूसरे फल की इच्छा नहीं होती ?
१२. पहली स्नान पूजा की भावना क्या हैं ?
१३. सजीवन प्रभुका क्या अभिप्राय हैं ?
१४. जाप किसका करना चाहिये ?
१५. जाप किस लिये करना चाहिये ?
१६. मन में स्थिरता कब आती हैं ?
१७. जाप कैसी जगह से करना चाहिये ?
१८. मन स्थिर करने की धारणा कहाँ करनी चाहिये ?

पाठ २५ - व्यवहार में वृत्ति स्वरुप का अवलोकन

हमारे मन के अन्दर जो भिन्न भिन्न प्रकार के विचार उत्पन्न होते हैं उनका जब कुछ अधिक स्थूल रुप हो जाता है तब उसे वृत्ति कहा जाता है । वृत्तियां मन में उत्पन्न होती हैं । ये बीज स्वरुप हैं । जैसे एक बीज में से अनेक बीज पैदा किये जा सकते हैं । वैसे ही वृत्ति के साथ जब अपनी राग अथवा द्वेष वाली भावना मिलती है तब उससे अनेक वृत्तियां उत्पन्न हो जाती हैं । हमारा रात दिन का व्यवहार इन वृत्तियों को पोषण करनेवाला है। नवीन कर्मों के बन्धन और उनके कारण भावी में प्राप्त होने वाले जन्म का आधार, मन में उत्पन्न होनेवाली ये वृत्तियां ही हैं । यदि मन के अन्दर सात्विक भाववाली वृत्तियाँ उत्पन्न की जाय अथवा निरंतर आत्म जागृति रख, प्रबल पुरुषार्थ द्वारा परमार्थी आचरण बना, सात्विक भाववाली वृत्तियों को ही उत्साहित करें, तथा व्यवहार के हरेक प्रसंग पर उन्हीं को टिका रखें तो हम अपना भावी जन्म तथा वर्तमान जीवन बहुत ऊंचा बना सकेंगे ।

यदि हमारा आचरण मात्र व्यवहार के लिये तथा परमार्थ भी व्यवहार की अनुकूलता के लिए ही होंगे तो इससे हमारी राजस प्रकृति पोषण पायेगी जिससे हमारा जीवन मध्यम दर्जे का बन जायेगा । यदि हमारा आचरण केवल स्वार्थमय, वासनाओं को ही पोषण करनेवला, इन्हें (स्वार्थ और वासनाओंको) प्राप्त करने के लिए विविध प्रकार की रौद्र प्रवृत्तियों वाला एवं अनेक जीवों को संहार करनेवाला होगा, तो हमारी वृत्तियां तामस भाव द्वारा

पोषण पाकर हमारे भावी जन्म को बिगाड देंगी; अर्थात् इसके परिणाम स्वरुप हमें भावी जन्म बहुत ही खराब प्राप्त होगा ।

संक्षेप में कहें तो हमारी मनोवृत्तियों का सात्त्विक, राजसिक और तामसिक इन तीन प्रकार की वृत्तियों में समावेश हो जाता है । यह प्रत्येक वृत्ति विवेक और विचार बल से बदली जा सकती है । चाहे कैसे भी विषम-प्रसंग क्यों न हो, उन्हें भी हम विचार बल और विवेक की सहायता से बदल सकते हैं । तामसिक और राजसिक प्रवृति को सात्विक रुप में बदलकर आत्मा को पतन की ओर जाते रोक, उन्नत बना सकने का सामर्थ्य हमारे हाथ में हैं । जब कभी ऐसा प्रसंग अपने हाथ में आवे तब उसे जाने नहीं देना चाहिये, अन्यथा चिरकाल से परिपुष्ट बनी हुई नीच प्रवृत्तियां अपना दुःखमय प्रभाव दिखलाए बिना नहीं रहेंगी ।

दुनिया में बडे कहे जानेवाले मनुष्यों की वृत्तियों का पोषण भी बडा ही होता है, परन्तु यदि वे आत्म भाव की तरफ जागृत होंगे तथा वृत्तियों के पोषण से उत्पन्न होनेवाले सुख दुख का उन्हें ज्ञान होगा तो वे अधम प्रवृत्तियों का पोषण नहीं करेंगे । यदि जीवन हल्का-नीच होगा तो उससे नीच वृत्तियों का ही पोषण होगा, तथा यदि जीवन उच्च होगा तो उसकी वृत्तियां भी उच्च प्रकार का पोषण पायेगी । अच्छे या बुरे निमित्त से वृत्तियों में परिवर्तन हुए बिना नहीं रहता ।

राजा यदि सात्विक वृत्ति का होगा तो उसमें अहिंसा, सत्य, प्रमाणिकता, क्षमा, नम्रता, उदारता, परोपकार, प्रेम, सत्कार, न्याय, शील, वीरता, धर्म, वात्सल्यता, ज्ञान, भक्ति, परमार्थ, सेवा, रक्षण, दान, गुरुभक्ति, अतिथिसत्कार, विनय आदि उच्च वृत्तियां ही पोषण प्राप्त करेंगी;यदि राजसी प्रकृतिवाला वैभवशाली जीवनवाला,

विलासी स्वभाववाला होगा तो उसमें विषयेच्छा, स्वार्थपरता, महत्त्वता, स्वार्थ साधक परोपकार, दया-दान-कीर्ति और कर्तव्य पालन आदि मध्यम वृत्तियां ही पोषण पायेंगी; तथा स्वार्थमय भावनाएं अथवा इच्छाएं पुष्ट होते हुए प्रसंगोपात अनेक प्रकार की हल्की-नीच वृत्तियां अन्तःकरण में बढ़ती जायेंगी ।

और यदि राजा तामसी प्रकृतिवाला होगा तो अपने भोजन के लिये, मौज शौक के लिये, और अधिकार के लिये उसके मन में क्रोध, अभिमान, कपट, लोभ, राग-द्वेष, तिरस्कार, अन्याय, असत्य, अप्रमाणिकता, व्यभिचार, कुव्यसन, कायरता, अधर्म, अनीति, निर्दयता, दंभ, महत्ता, ईर्ष्या, द्वेष और मोह इत्यादि वृत्तियों का पोषण होगा । तथा उन पोषण पाई हुई वृत्तियों को भोगने के लिये जहां अनुकूलता होगी वहीं उसे फिर जन्म लेना पडेगा ।

धर्मगुरु यदि सात्त्विक प्रकृतिवाला होगा तो उसके हृदय में सात्विक वृत्तियां होंगी; परन्तु यदि वह हठीला, (जिद्दी) धर्मान्ध, अथवा अज्ञानी होगा तो तामसी प्रकृतिवाले राजा के समान ही वृत्तियां प्रायः उसके हृदय में भी होंगी । क्योंकि वह धर्मगुरु भी एक बडा आदमी है, तथा अधिकार की गरमी भी कुछ भिन्न प्रकार से प्रायः वैसी ही उसमें भी होती है ।

मनुष्य यदि उद्यमी होगा तो पुरुषार्थ, स्वाधीनता, उत्साह, स्वतंत्रता, वीरता आदि की वृत्तियां उसमें होंगी । इन वृत्तियों से उसके जीवन के संयोगो तथा निमित्तों के प्रमाण में दूसरी वृत्तियां भी परिपुष्ट होंगी ।

मनुष्य यदि आलसी, कर्जदार या भिखारी होगा तो दुःख, कायरता, निराधारता, निरुत्साह, मंदता, अज्ञान, असंतोष, लोभ,

क्लेश, केवल दुःखमय, विचार, ईर्ष्या, द्वेष, आदि की वृत्तियां मुख्यतया उसमें होंगी तथा उसके उस समय के संयोगों के प्रमाण में दूसरी भी क्रोधादि की वृत्तियां पुष्ट होती रहेंगी ।

फौजदार अथवा जेलर के हृदय में निर्दयता, निष्ठुरता, चंचलता, सत्ताबल आदि वृत्तियां स्वभाविक ही हो जाती हैं ।

नौकरों के चित्त में उनके स्वभावानुसार प्रमाणिकता अथवा अप्रमाणिकता की वृत्तियां हुआ करती हैं ।

शिकारियों और कसाइओं के - जो खुराक के लिए पशुओं को पालते हैं - हृदय में हिंसा, क्रूरता, लोभ आदि की वृत्तियां होती हैं ।

अनाज आदि के व्यापारियों के हृदय में अनाज आदि लेते समय शान्ति की तथा बेचते समय अशान्ति की वृत्ति होतीं है ।

सामान्यतया सभी तरह के व्यापारी शान्ति अथवा अशान्ति के समय-उनका माल बिके या न बिके तो भी उसी प्रकार के प्रसंग तथा काल के ऊपर अपनी उच्च या नीच वृत्तियों को पोषण दिये बीना नहीं रहते ।

किसानों की भावनायें भी बोते समय और बेचते समय प्रायः अलग-अलग हुआ करती हैं । उन भावनाओं के अनुसार ही उनके हृदयों में शान्ति या अशान्ति, सुख या दुःख, मोह, लोभ आदि की वृत्तियां पुष्ट हुआ करती हैं ।

इष्ट वस्तु या प्रियजन के वियोग में प्रायः मोह, शोक, अज्ञान, दुःख आदि की वृत्तियां मुख्यतया हुआ करती हैं । अनिष्ट वस्तु, अप्रिय या शत्रु मनुष्य अथवा रोगादि के समय हिंसा, तिरस्कार अभाव, दुःख की वृत्तियां होती हैं ।

इतनी बातें तो केवल ऐसी ही वृत्तियों के विषय में कही गयी हैं, कि जिनका प्रत्यक्ष में अनुभव होता है, परन्तु एक वृत्ति के साथ अन्य भी अनेक वृत्तियाँ प्रसंगानुसार हो जाती हैं । इस सारे विवेचन का सार यह है कि जैसा बीज होगा वैसा ही फल भी उत्पन्न होगा । इस दृष्टांत के अनुसार हमारी वृत्तियां जैसी होंगी वैसे ही हमें फल भी भोगने पडेंगे । इसलिये प्रत्येक व्यवहार या परमार्थ के समय मनुष्य को अपनी वृत्तियों की जांच करते रहना चाहिये । वृत्ति के मूल कारण तथा इसके भावी फल या संस्कारों के पडने की ओर भी लक्ष्य रखना चाहिये । तथा एक वृत्ति में से अनेक वृत्तियां किस प्रकार विस्तार पाती हैं इन्हें भी ध्यान में रखना चाहिये । इस प्रकार निरीक्षण करते रहने से मन की कौन सी वृत्तियों को उत्पन्न होने देना चाहिये और कौन सी को नहीं, इस बात को समझने और समझकर वृत्तियों को स्व इच्छानुसार बदलने की कुञ्जी हमारे हाथ में आ जायेगी । इसके साथ ही हमारी भावी जिन्दगी जैसी बनाना चाहेंगे वैसी बनाने का बल भी हमें प्राप्त हो जायेगा ।

अपनी वृत्तियों की तरह दूसरे की वृत्तियों का भी निरीक्षण करते रहना चाहिये और निरीक्षण करते हुए अपने मन में ऐसा विचार करना चाहिये कि यदि मैं ऐसी परिस्थिति में आऊं तो उस समय मुझे किस प्रकार की वृत्ति रखनी होगी अथवा कैसा व्यवहार करना होगा । ऐसा करने से भविष्य में ऐसे प्रसंग उपस्थित होने पर विशेष जागृति रखने का तथा नवीन बीजवाली वृत्तियों को रोक सकने का बल प्राप्त हो सकेगा ।

प्रभु के मार्ग में आगे बढ़ने की इच्छा रखनेवाले हरेक मनुष्य को व्यवहार के प्रत्येक अवसर पर अपनी वृत्तियों का निरीक्षण करते

रहना चाहिये । वृत्तियां निरीक्षण करने की दिशा सूचन करने के लिये ही यह छोटा-सा पाठ लिखा गया है । यह पाठ शान्ति के मार्ग का बीज है । जो बीज बोता है वही फल प्राप्त करता है ।

धर्म का वास्तविक स्वरूप इस प्रकार वृत्तियों का निरीक्षण कर उन वृत्तियों को उच्च बनाने में ही है अर्थात् तमोगुण में से रजोगुण तथा रजोगुण में से सत्वगुण में आने का अभ्यास करना चाहिये । जब तक ऐसा अभ्यास नहीं किया जाता तब तक हृदय निर्मल नहीं होता तथा अनेक जन्म तक धर्म करते हुए भी उसका उत्तम फल प्राप्त नहीं होता ।

पाठ - २६ आत्मा का विकास, लक्ष्य तथा जागृति

ध्यान के बिना पूर्ण रुप से आत्मा का विकास नहीं होता । भूतकाल में जितने भी महान् पुरुष हुए हैं वे सब ध्यान ही के बल से आगे बढ़े हैं । तथा अब भी इस ध्यान बल द्वारा ही आगे बढ़ सकते हैं । ध्यान मार्ग में प्रवेश करनेवाले मनुष्य को पहले अपना ध्येय निश्चित करना चाहिये । उसको निश्चित करने के बाद यह निश्चय करना चाहिये कि, इस मार्ग में चलने के लिये मुझ में कितनी योग्यता है । फिर ध्यान की विधि जानकर उसका अभ्यास करना चाहिये ।

हमें जो स्थिति प्राप्त करनी है उसका दृश्य मानसिक स्थिति के सामने बारबार विचार बल से खडा करना चाहिये तथा उस एक ही विचार को ध्यान के किसी भी समय में भूलना नहीं चाहिये ।

अपना ध्येय आत्मा के शुद्ध स्वरुप को प्राप्त करना ही है । आत्मा के ऊपर आवरण रुप जो आठ कर्म है, उनके नाश होने से आत्मा के आठ महान् गुण प्रगट होते हैं । आत्मा ही अनन्त है क्योंकि इसका अन्त अर्थात् नाश नहीं होता है । इस अनन्त का ज्ञान, दर्शन, आनन्द, शक्ति, सुख, जीवन, स्वरुप और अनुभव यही प्राप्त करने योग्य ध्येय है । इससे यह निश्चय हुआ कि अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य, अव्याबाध सुख, आदि अनन्त जीवन, अरुपी दशा और अगुरुलघु-व्यापक स्थिति- यह आत्मा का पूर्ण विकास है । उसी के लिये ही मैं प्रयत्न करता हूं । मेरी सर्व प्रवृत्तियां मेरे इस आत्म-विकास के लिये ही हैं ।

भूगर्भ

लक्ष्य जागृत करने के बाद भूगर्भ उत्पन्न करना चाहिये । एक ही विचार को बारबार मनन करने से मन के ऊपर उसका मजबूत असर होता है । मन धीरे धीरे उसी विचार के अनुरुप हो जाता है और अन्त में अपने आसपास भी वैसा ही वातावरण उत्पन्न करता है उस वातावरण में आनेवाले अणु भी उससे अच्छी तरह सुवासित होते हैं । सजातीय परमाणु भी उसकी तरफ खिंचकर आते हैं । विरोधी परमाणुओं को दूर करता है । इस बंधे हुए मानसिक आकार को तथा वातावरण को भूगर्भ कहते हैं । अपने साध्य रुप लक्ष्यबिन्दु का जब भूगर्भ बंध जाता है तब वह निश्चित बीजपन के रुप को धारण करता है । अपने अपने ध्येय से सम्बन्ध रखनेवाली, प्रत्येक क्रिया या प्रवृत्ति इस भूगर्भ की तरफ प्रवाह रुप से आकर बीज को पोषण कर उसमें से आत्मा का पूर्ण विकास रुप फल पैदा करती है । अपने विचार बीज रुप होकर उग निकलते हैं इसलिये विचार और इच्छाएं बहुत सावधानी से करनी चाहिये और अबसे अधम वृत्तिवाले नये बीज बोना छोड देना चाहिये ।

यदि अपना लक्ष्य आत्म विकास का ही हो तो अपनी सब प्रवृत्तियों का फल भी वही पैदा होगा । परन्तु यदि अपना लक्ष्य इन व्यवहार की या योग की चमत्कारी शक्तियां पैदा करने के लिये होगा तो अपनी उत्तम क्रियाएं भी उसी का पोषण रुप परिणाम न होकर उसी प्रकार का फल उत्पन्न करेंगी । तथा इनमें से नवीन कर्म प्रगट करेंगी, इसलिये अपना लक्ष्यबिन्दु आत्मा की पूर्णता प्रगट करने के सिवाय दूसरा नहीं होना चाहिये । इस बात का बहुत ध्यान रखना चाहिये ।

ध्यान मार्ग के विरूद्ध विचार रुपी कांटों को न उगने देना चाहिये । यदि उग जाये तो विचार बल एवं वृत्ति निरीक्षण द्वारा उन्हें उखाड डालना चाहिये । यदि ऐसा नहीं किया जायेगा तो ये कांटे भी उग निकलेंगे और मूल लक्ष्य को पुष्ट करने के लिये जो खुराक मिलती है उसे खुद खाकर हमारे साध्य को निःसत्व बना देंगे ।

ध्यान करने का स्थान

हृदय के बांयें भाग की तरफ उपयोग रखकर वहां शान्ति शान्ति शान्ति का जाप करना चाहिये । जाप के समय हृदय में यदि कोई क्षुद्र वृत्ति उठ जावे तो जाप बन्द कर, उस वृत्ति की विरोधी-उन्नतिवाली वृत्ति उत्पन्न कर, विवेक ज्ञान द्वारा क्षुद्र वृत्ति की असारता समझ उस वृत्ति को तोड डालना चाहिये । तथा फिर जाप प्रारम्भ कर देना चाहिये । इसी प्रकार जाप करते समय कोई भी विकल्प उठे उसी समय उस वृत्ति को पकड जाप बन्ध करके, वृत्ति को सद् विचार द्वारा बिखेर डालना चाहिये । तत्पश्चात् फिर जाप शरु कर देना चाहिये ।

यदि वृत्तियां उठती ही जायेगी और उन्हें तोडे बिना जाप चालु ही रखा जायेगा अथवा उन विकल्पों की उपेक्षा कर जाप को चालू रखा जायेगा तो वे क्षुद्र वृत्तियां अन्दर ही दबकर पडी रहेंगी और थोडा सा कारण मिलते ही प्रबल होकर जाप को अव्यवस्थित कर डालेंगी । इसलिये विचार बल से इन्हें तत्काल ही नष्ट कर देना चाहिये । जाप चाहे कम हो इसकी चिंता नहीं है । जाप की गिनती की कोई खास आवश्यकता नहीं हैं । जाप की गिनती का कोई खास मूल्य भी नहीं है । मूल्य तो है क्षुद्र वृत्तियों को कम करने और शुभ वृत्तियों को उन्नत बनाने का ।

वृत्तियों का निरीक्षण

कुछ समय बाद जाप को बन्द करके हृदय के मध्य से दो अंगुल बांई तरफ एकाग्रता पूर्वक देखना चाहिये । आंखों को तो बन्द ही रखना चाहिये । मन में उठती हुई स्वाभाविक वृत्तियों को रोकना नहीं चाहिये । वृत्तियां उठें ऐसी प्रेरणा भी नहीं करनी चाहिये । स्वयं तो द्रष्टा बन कर देखते रहना चाहिये । स्वाभाविक सहज उपयोग में रहते हुए बीच-बीच में उपयोग का विस्मरण हो जाना संभव है । उस समय कोई न कोई वृत्ति अवश्यमेव प्रगट हो जाती है । उस वृत्ति को विचारों द्वारा तोडकर फिर शान्त होकर अवलोकन करते रहना चाहिये ।

इस अभ्यास से सत्ता में रही हुई अनेक प्रकार की वृत्तियाँ बाहर आती हैं तथा फिर से वे वृत्तियाँ उत्पन्न न हो इस प्रकार विवेक ज्ञान के विचार द्वारा नष्ट कर दी जाती हैं । उसके साथ ही नई इच्छाएं न करने के कारण सत्ता में नवीन बीजों का प्रवेश भी रुक जाता है । इस अभ्यास से संवर और निर्जरा एक साथ होते हैं । संचय होने के लिये आनेवाले कर्मों को संवर है तथा संचित कर्मों को नष्ट करना निर्जरा है । इस अभ्यास से ये दोनों होते हैं ।

द्रष्टा (प्रेक्षक) की तरह देखते रहने से, यदि वृत्तियां न उठें तो स्थिरता अथवा एकाग्रता बढ़ती जाती है, तथा वृत्तियां उठती हैं तो विवेकज्ञान द्वारा तोडने का काम चालू होता है । वृत्तियों को उठने न देकर दबाएं रखने से वे सत्ता में दबी हुई पडी रहती हैं तथा बलवान निमित्त मिलनेपर वे विशेष जोर के साथ बाहर आती हैं । हृदय में शान्ति की छाया नीचे अवलोकन करते रहने से सत्ता में रहे हुए कर्म धीरे-धीरे बाहर आते हैं । यह कर्म तोडने का पुरुषार्थ है ।

वृत्ति के अवलोकन रुप ध्यान द्वारा जब कर्म बाहर आते हैं तभी हमें ज्ञात होता है कि अभी इस प्रकार के कर्म मेरे अन्दर विशेष या कम प्रमाण में रहे हुए हैं तथा अमुक प्रकार की वृत्तियां न उठने के कारण से उस प्रकार के कर्म कम हुए हैं । जो कर्म अपने अन्दर विशेष प्रबल होंगे उनसे विचार वारंवार आयेंगे । तो भी हमें जाप और अवलोकन चालू ही रखना चाहिये । जाप "ॐ" कार का, "सोहं" का और "शान्ति" का तीनों तरह का प्रसंगानुसार करना चाहिये ।

जाप रुप हल द्वारा कर्म रुप जमीन खुदती हैं । तथा शान्ति जाप की छाया नीचे वृत्ति अवलोकन रुप फावडा द्वारा खुरच कर वे कर्म बाहर निकाल दिये जाते हैं ।

ध्यान के सिवाय दूसरे समय में वृत्तियों को तोडने का ज्ञान प्राप्त करने के लिये, आत्मा के शुद्ध स्वभाव को बतलानेवाले, कर्मों के अचल नियमों को समझानेवाले तथा मन की वृत्तियों के स्वरुप को बतानेवाले ग्रंथो को पढना बहुत उपयोगी है ।

दिन में हर समय वृत्तियों का अवलोकन करते रहना चाहिये । मन में उठते हुए विकल्पों को वृत्तियां कहते हैं । एक में से अनेक वृत्तियां उठती हैं । यदि हमारी जागृति न हो उनका इतना विस्तार बढ़ जाता है कि घण्टों तक उनका अन्त नहीं आता ।

यह विकल्पोंवाला मन आत्मा के आगे आवरण रुप खडा रहकर उसके आवरणों में वृद्धि करता रहता है । विविध इच्छाओं या वासनाओं वाले विकल्प सत्ता में रहे हुए कर्मों में से बाहर आते हैं तथा बाहर के पदार्थों के निमित्त भी वह विविध प्रकार की इच्छाएं करते हैं । इन इच्छाओं के निमित्त से राग, द्वेष, हर्ष, शोक पैदा होकर नये कर्म बीजों का संचय कराते हैं । अपनी निर्बल इच्छाओं में से ही इनका जन्म होता है ।

जाप का फल वृत्तियों को मन से जुदाकर, इन्हें नाश करने का है । मन से वृत्तियों जुदा हुई तब समझना चाहिये कि जब इनका असर मन पर होना सर्वथा मिट जाय । खोजने से भी वृत्ति न मिले और आकृति बने बिना ही उपयोग की जागृति से बिखर जाय । यदि वृत्ति जुदा न हुई हो तो उसका असर मन पर होता है; किसी विषय प्रसंग का हृदय पर आघात लगता है । मन वैसी बातों का बार-बार पुनरावर्तन करता है । चित्त स्थिर नहीं होता, विक्षेप हुआ करते हैं, विह्वलता आ जाती है । ये सब वृत्ति के मन से नष्ट न होने के लक्षण हैं । जब तक वृत्ति नष्ट न हो जाय तब तक समझना चाहिये कि जाप परिपक्व नहीं हुआ है, तथा जाप का फल नहीं मिला है अतः जाप जारी रखना चाहिये । वृत्ति छूट जाय तो उसे निर्लेप वृत्ति कहते हैं । वृत्ति निर्लेपतावाला जाप हो तो शान्ति बढ़ती है, सारे शरीर में शान्ति फैली रहती है । वृत्तियों का सर्वथा नाश होना यह तो बहुत ऊँची हद है । फिर से उत्पन्न ही न हों ऐसा वृत्तिनाश तो चौदहवें गुण-स्थान में होता है । तो भी निर्लेप जाप करने से पवन के समान वृत्ति उपर ही रहती है परन्तु हृदय में उसका प्रवेश नहीं होता । यह जाप भी बन्द होकर शान्त स्थिरता रहती है ।

जाप करते समय यदि वृत्तियों का बल विशेष मालूम हो, विकल्प बहुत उठें तो "शांति" शब्द का जाप करना चाहिये । इसके साथ ही वृत्ति को देखते रहना और भावना करना चाहिये कि इन वृत्तियों का नाश हो । इससे वृत्तियां कम होंगी । यदि बहुत वृत्तियां उठें तो अर्थ के साथ "सोहं सोहं" शब्द का जाप करना चाहिये ।

व्यवहार की क्रियाओं को निर्लेप बनाने के लिये व्यवहार के समय भी जाप चालु रखना चाहिये और वृत्तियों का बल जांचते रहना चाहिये । उनके कारणों और परिणामों का भी विचार करते रहना चाहिये । इच्छा करते ही वृत्तियों को बदल देने का बल प्राप्त करना चाहिये । ऐसा समझना चाहिये कि पुनर्भव उत्पन्न करनेवाले बीजों वाली वृत्तियां नाश होने से ही आत्मा को सच्चा सुख प्राप्त होगा अथवा उन्नत भाव प्रगट होगा । चाहे मनुष्यों को चमत्कृत करनेवाली शक्ति पैदा न हो परन्तु जो मन को मलिन और मोह को पोषण करनेवाली वृत्तियां बीज रूप से सत्ता में नई प्रवेश कर अनेक बीज उत्पन्न करनेवाली होती है उन्हें नाश करने का बल प्राप्त करना कोई साधारण लाभ नहीं है । आत्मा का पूर्ण विकास इन वृत्तियों के नाश से ही होता है । उपशम पडी हुई वृत्तियां फिर निमित्त पाते ही पूर्ण वेग से बाहर आती हैं उस समय की-कराई मेहनत धूल में मिल जाती है । चमत्कारिक शक्तियां चली जाती हैं और फिर धोई हुई मूली के समान वैसे के वैसे ही हो जाते हैं । इसलिये वृत्तियों को रोकने या दबाने की अपेक्षा विचार बल से इनका नाश करना ही आत्मोन्नति का सरल राजमार्ग है ।

यह पाठ उच्च विचार दशा वालों के लिये लिखा गया है। इसलिये इसमें से उपयोगी कर्तव्य अपने लिये स्वयं ही खोज लेना चाहिए ।

पाठ २७ - अन्त समय की क्रिया

आत्मा अमर है तो भी शरीर तो बदलता ही है । आगे बढने के लिये शरीर को बदलने की आवश्यकता है । यदि शरीर जीर्ण हो गया हो, अशक्त बन गया हो, धर्म क्रिया करने में निरुपयोगी हो, विशेष ज्ञान ध्यान इससे न हो सकता हो, तो इसे टिकाये रखने से क्या लाभ ? परमात्मा के मार्ग में आगे बढ़ने के लिये विशेष दृढ़ और बलवान शरीर की बहुत ज्यादा आवश्यकता है, अर्थात् जीर्ण, अशक्त, शरीर का त्याग करना दुःख रुप नहीं परन्तु सुख रुप है । जीर्ण वस्त्र को त्यागकर नवीन वस्त्र पहनने में दुःख कैसा ? जिन मनुष्यों की मृत्यु नजदीक हो उन्हें विशेष जागृत रहना चाहिये । व्यवहार में कहावत है कि - 'अन्ते या मति सा गति' अर्थात् मरते समय जिसके जैसे परिणाम होते है वैसी ही उसे गति मिलती है । यह बात सत्य है कि जीवन भर जो कार्य किये होते हैं उनके संस्कार अन्त के समय दृढ़ता के साथ जागृत रहते हैं इसलिये अन्त समय वैसी ही बुद्धि उत्पन्न होती है । अतः उस समय आत्मजागृति रखने की बहुत ज्यादा जरुरत है । इसके न होने से भावी जन्म बिगड जाता है ।

कदापि अन्त के समय असाता वेदनीय का उदय अथवा आशक्ति वाला मनुष्य या पदार्थ हमारे भान को न भुला दे इसलिये चाहे गृहस्थ हो या त्यागी उसे किसी आत्मा जागृतिवाले महान् पुरुष को अपने पास बुलाकर रखने की परमावश्यकता है । उनके आश्रय में रहकर आराधना करें । अपनी शक्ति के अनुसार प्रारम्भ किये हुए कार्यों को पूरा करें । मोहादि को पीछे हटावें, पापों से अलग रहें, मोह ममत्व को त्यागकर समभाव में रह, परमात्मा का

स्मरण करते हुए शान्तिपूर्वक इस देह का त्याग करें। इसको समाधि मरण या आराधना कहते हैं । आत्मज्ञानी पुरुष ऐसी अवस्था में विशेष जागृति कराते हैं, तथा आराधना कराते हैं । आराधना में विघ्नरुप जिन्दगी में किये हुए बुरे कृत्य उनके पास कह देना, उनसे प्रायश्चित लेना, उस कृत्य की निन्दा करना, पश्चात्ताप करना, फिर ऐसा न करने की प्रतिज्ञा लेना चाहिये जो कि इस प्रकार है ।

अंगीकार किये हुए व्रतों में दोष लगा हो, जीवों का वध किया हो, असत्य बोला हो, चोरी की हो, परस्त्रीगमन किया हो, परिमाण से अधिक धनादि का संचय किया हो, ममता रखी हो, क्रोध किया हो, अभिमान किया हो, कपट प्रपंच किया हो, तृष्णा के कारण जीवों को सताया हो, स्वार्थ के लिये स्नेह किया हो, द्वेष किया हो, क्लेश किया हो, निन्दा की हो, झूठा कलंक दिया हो, सुख दुःख के प्रसंग में हर्ष शोक किया हो, मायापूर्वक असत्य बोला हो, तथा मिथ्यात्व का सेवन किया हो । इस पाप मार्ग में प्रवृत्ति की हो उसके लिये क्षमा मांगना और पश्चाताप करना चाहिये ।

गुरु की साक्षी में पांच महाव्रत ले, आयुष्य शीघ्र ही समाप्त होनेवाला है इसलिये गृहस्थाश्रम का त्याग करना चाहिये । यदि त्यागी हों तो फिर से व्रत ले । जैसे, -अबसे मैं यावज्जीवन किसी जीव को मारुंगा नहीं, असत्य नहीं बोलूंगा, चोरी नहीं करुंगा, ब्रह्मचर्य पालूंगा तथा सर्व प्रकार की सम्पत्ति का मैं त्याग करता हूं । इन पांच महाव्रतों को स्वीकार कर कर्मों के आने का मार्ग बन्द कर देना चाहिये ।

यदि किसी के साथ वैर हो तो देव, गुरु की साक्षी से उन सबसे क्षमा माँगकर वैर विरोध शान्त करे, किसीके साथ वैर विरोध न रह जाय इसलिये अपने सम्पूर्ण जीवन का भली भांति निरीक्षण

कर जावें और सर्व जीवों को आत्मतुल्य समझ, बिखरी हुई अपनी मनोवृत्ति को पीछे खींचकर आत्मा के अन्दर स्थिर करें। सारे पदार्थों और सारे जीवों की तरफ से मोह को हटा कर आत्म मार्ग के सहायक अरिहंत देव, सिद्ध परमात्मा, तत्वज्ञ गुरु, और शान्तिमय धर्म इन चारों की शरण स्वीकार करें, तथा मन में कहें कि, "हे प्रभो ! मैं आपकी शरण में हूं, यह जीवन मैं आपको अर्पण करता हूं। यह मन, वचन और शरीर आपके आधीन है । इनका आपकी आज्ञानुसार ही परिचालन हो !" इस तरह निश्चय कर परमात्मा के शुद्ध स्वरुप का एक लक्ष्य बांधकर अपनी मनोवृत्ति को भ्रू के मध्य में लावें । उस जगह परमात्मा का पवित्र नाम सूचक "ॐ" कार का जाप करें । उस समय जाप के सिवाय मन में कोई भी विचार न आवे इसके लिये उपयोग को जागृत रखें । उस मन्त्र का तार मन से जितना लम्बा किया जा सके उतना करे, उस जाप में मनोवृत्ति को लीन कर देवें । अन्त में ब्रह्मरन्ध्र तरफ लक्ष्य रख, जाप को जोड दें । परमात्मा कर्मरुप अञ्जन (मल) रहित हैं, यह याद कर उस जगह निर्मल प्रकाश में वृत्ति को जोंड रखें । परमात्मा निराकार है ऐसा विचार कर यह प्रयत्न करें कि मन आकार न पकडे ऐसी स्थिति में स्थिर हों । परमात्मा निर्विकल्प है यह सोचकर मन को ऐसा स्थिर रखें कि उस में कोई विकल्प न उठे इत्यादि भावों में मनोवृत्ति को लय करते रहें। अन्त में मनोवृत्ति को ब्रह्मरन्ध्र में से बाहर निकालकर परमात्मा के निराकार स्वरुप में स्थिर कर दें। इसी स्थिति में इस क्षणभंगुर देह का त्याग करना चाहिये । यह विषय अनुभव का है । जैसा प्रयत्न, उत्साह, जागृति और गुरु का समागम होगा वैसी आत्म शान्ति का अनुभव कर यह आत्मा देह का त्याग करेगा तथा भविष्य की स्थिति का अधिकारी बनेगा ।

इति श्री आचार्य महाराजा श्री विजय कमलसूरीश्वरतणां शिष्य श्रीमद् पन्यासजी श्री केशरविजय गणिभि:विरचिता आत्मज्ञान प्रवेशिका विक्रम संवत् २०१८ कार्तिक मासे शुक्ल पक्षे पंचमी तिथौ राजनगरे समाप्ता

लेखक पाठकयोः शुभं भूयात् ।

सार प्रश्न

१. शरीर क्यों बदलना चाहिये ?
२. कैसे शरीर को छोडना चाहिये ?
३. आत्म जागृति क्यों रखनी पडती हैं ?
४. आराधना किसे कहते हैं ?
५. मृत्यु समय किसे पास में बुलाना चाहिये ?
६. किसका पश्चाताप करना चाहिये ?
७. व्रत किसकी साक्षी में लेने चाहिये ?
८. कैसे जीवों से क्षमा माँगनी चाहिये ?
९. किसकी शरण लेनी चाहिये ?
१०. वृत्ति को कहाँ रखकर ॐ कार का जाप करना चाहिये ?
११. अन्त में मन को कहाँ जोडना चाहिये ?
१२. अन्त की स्थिरता कहाँ करनी चाहिये ?

कठिन शब्दार्थ कोष

१.	पुद्गल	= जड-प्रकृति, नाम रूपवाले पदार्थ
२.	अवर्णवाद	= निंदा
३.	दुगंछा	= ग्लानी करना
४.	उदीरणा	= उत्तेजन करना
५.	समकित मोहनीय	= सत्य मार्ग समझने मे होने वाली मुश्किल
६.	परिग्रह	= धनादि का संचय करना
७.	आर्तध्यान	= विषयों की तीव्रतावाला ध्यान
८.	विपाक	= फल
९.	नव ग्रैवेयक	= बारह देवलोक के ऊपर रहा हुए ग्रीवा के समान देव लोक
१०.	अनुत्तर विमान	= विराट स्वरूप का देवों का रहने का स्थान
११.	धर्मास्तिकाय	= जैन मतानुसार छ द्रव्यों मे से गति मे मदद करनेवाला एक द्रव्य
१२.	अधर्मास्तिकाय	= स्थिर होने मे मदद करने वाला एक द्रव्य
१३.	देश विरति	= थोडे प्रमाण मे पाप प्रवृत्ति का त्याग
१४.	सामायिक	= दो घडी तक समभाव मे लीन रहना
१५.	प्रतिक्रमण	= पाप से पीछे हटना
१६.	पौषध	= आत्मा को पुष्टि करनेवाला व्रत
१७.	उपयोग	= ध्यान रखना, जागृति रखना

श्री मुक्ति चंद्र श्रमण आराधना ट्रस्ट, गिरिविहार पालीताणा द्वारा प्रकाशित योग निष्ठ स्व. प.पू.आ.श्रीमद् विजय केशर सूरीश्वर म.सा. का आलेखित तत्त्वज्ञान तथा अध्यात्म रस से पूर्ण मौलिक साहित्य एवं अन्य ग्रंथ रत्नों की सूची

✦ गुजराती भाषा के प्रकाशन

१. आत्म विशुद्धि
२. आत्म ज्ञान प्रवेशिका
३. आत्मानों विकास क्रम अने महामोहनों पराजय
४. ध्यान दीपिका
५. योग शास्त्र-भाषांतर
६. सम्यक् दर्शन
७. प्रभुना पंथे ज्ञान नो प्रकाश
८. आनंद अने प्रभु महावीर
९. महावीर तत्व प्रकाश
१०. प्रवोध चिंतामणी
११. धर्मोपदेश तत्वज्ञान
१२. शान्ति नो मार्ग
१३. गृहस्थ धर्म
१४. नीतिमय जीवन
१५. नीतिविचार रत्नमाला
१६. महाबल मलयासुंदरी चरित्र-भाषांतर
१७. सुदर्शना चरित्र एटले समली विहार-भाषांतर
१८. धर्मरत्न ना अजवाला एटले धर्मरत्न-भाषांतर
१९. अध्यात्म कल्पद्रुम अर्थ सहित
२०. हस्तरेखा-संजीवनी
२१. मुक्ति मार्ग नो साथी
२२. बृहत योग विधि
२३. श्री तपागच्छ वंशावली
२४. मार्गदर्शक गुरुदेव अने आदर्श गच्छाधिराज
२५. आदर्श गच्छाधिराज
२६. प.पू. आचार्य श्री विजयकमल सूरीश्वर म.सा. का जीवन चरित्र
२७. दशवैकालिक-भाषांतर
२८. धर्मरत्न प्रकरण (मूल तथा अर्थ सहित)
२९. नित्य आराधना
३०. समाधि साधना

✦ प्रताकार में-

३१. सुदर्शन चरित्र एटले समली विहार-भाषांतर

३२. महाबल मलया सुंदरी चरित्र-भाषांतर

३३. धर्मरत्नना अजवाला एटले धर्मरत्न प्रकरण भाषांतर

३४. ज्ञान विमल सूरिकृत कल्पसूत्र ना ढालीयों

३५. श्री पंचसूत्र-भाषांतर

✦ अंग्रेजी भाषा के प्रकाशन

३७. Knowledge of Soul

✦ हिन्दी भाषा के प्रकाशन

३८. बारसा सूत्र-भाषांतर

३९. कल्पसूत्र भाषांतर

४०. पर्युषणा अष्टानिका-भाषांतर

४१. आत्मज्ञान प्रवेशिका

४२. आत्म विशुद्धि

४३. प्रभु के मार्ग में ज्ञान का प्रकाश

४४. शान्ति का कर्म

४५. गृहस्थ धर्म

४६. नीतिमय जीवन

४७. पथ प्रदर्शक गुरुदेव

४८. धर्मोपदेश तत्वज्ञान

४९. प्रभु भक्ति वंदना

५०. ध्यान दीपिका

श्रवण सेवा विचारक प. पू. सरल स्वभावी गच्छाधिपति आचार्य श्रीमद् विजय हेमप्रभ सूरीश्वरी म. सा. की दीक्षा का ५१ वाँ वर्ष चल रहा है। इस शुभ प्रसंग पर ५१ ग्रंथ-रत्नों की श्रंखला पूर्ण करने का हमें गौरव प्राप्त हुआ है।

प. पू. योगनिष्ठ आचार्य
श्री विजय केशरसूरीश्वरजी मा. सा.

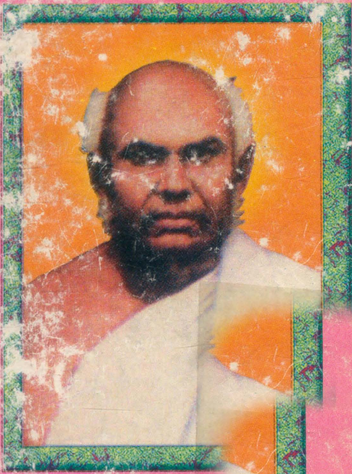

प. पू. आचार्य
श्री विजय हेमप्रभसूरीश्वरजी मा. सा.

आत्मोन्नति का श्रेष्ठ उपाय

उत्तम साहित्य यानि महापुरुषो के विचारों का अक्षय कोष...... भव भ्रमण रूपी रोग का नाश करने हेतु श्रेष्ठ रसायन....... आत्मिक गुणों को प्रगट करके आनन्द देने वाला अमृत...... उत्तम साहित्य आत्मा का हितैषी मित्र है........मानव की आध्यात्मिक चेतन को जागृत करना आज के युग की अनिवार्य आवश्यकता है। सरल सुबोध व आत्मस्पर्शी साहित्य के वांचन व मनन से ज्ञान - दृष्टि का विकास होता है. आत्मबोध होता है व परमात्म-स्वरूप के प्रति प्रीती पैदा होती है।

ऐसा हैं परम पूजय योगनिष्ट आचार्य विजयकेशर सूरीश्वरजी मा. सा. द्वारा रचित आध्यात्मिक साहित्य ! प्राप्त करना है ? ....मंगाईये ।....... संपर्क करें !!!

श्री मुक्तिचंद्र श्रमण आराधना ट्रस्ट
मुक्ति नगर, गिरिविहार, पालीताणा

मुद्रक - सिध्धि प्रिन्टोरीयम - अहमदाबाद फोन २१ ३२ ९३१